श्री रामचन्द्रायनमः

श्री श्री १०८ श्री रामरतनदास जी

करह वाले बाबा महाराज

का

दिव्य जीवन

लेखक—

रामजी ब्रह्मचारी

साहित्य व्याकरणाचार्य

प्रथम संस्करण
२०००

संवत् २०१६
मार्ग शीर्ष

प्रकाशक—
मीराबाई

पुस्तक-प्राप्ति स्थान—
व्यवस्थापक—
हनुमान गढ़ी, नूराबाद
पो० नूराबाद
जि० मुरेना
(मध्य प्रदेश)
नौछावर २)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

नम्र-निवेदन

वासं दिव्यविभूतीनां भासं भक्ति मणेरपि,
दासं श्रीरामरत्नस्य वन्दे वन्द्य पदाम्बुजम् ।

श्रद्धालु पाठकों के सम्मुख 'दिव्य जीवन' प्रस्तुत है। प्रकाशन शीघ्रता में किया गया है अतः पूज्य श्री बड़े बाबा महाराज के जीवन-वृत्तान्त का कुछ भाग शेष रह गया है। यदि प्रभु-कृपा से इसके द्वितीय संस्करण का सु अवसर उपलब्ध हुआ तो उसमें अवशिष्ट अंश एवं कुछ संस्मरण सम्मिलित कर दिये जायेंगे।

प्रकाशन का यह अनुभव हमारा नया है अतः इसमें भूलों का होना स्वाभाविक है। उनके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं। जिन जिन महानुभावों ने इस पुण्य कार्य में योग दिया है, उनके हम हृदय से आभारी हैं।

अन्त में हम प्रभु के प्यारों को प्यारी चर्चा को प्रभु को ही समर्पित करते हैं।

रामजी शास्त्री

श्री ... संख्या.......... विषय.......... लोकहित - प्रकाशन - दिल्ली

विषय-सूची

भूमिका

आकाश में अपार ताप का भण्डार सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से प्रज्वलित होता है तब कहीं मानव शरीर में ९८ डिग्री तापमान प्रवेश करता है, जीवन उसी ताप पर निर्भर रहता है, उसी ताप से मनुष्य जीवित रहता है और जीवित रहने की वह अदम्य कामना, हमें अनंत संघर्षों से जूझने की, अटूट बन्धनों को गले लगाने की तथा पग-पग चुभने वाले दुःख के कांटों को हँसते-हँसते सह लेने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार जीवन और जीवनी शक्ति दोनों सूर्य के यत्किञ्चित् तापमान में निहित हैं। इसी प्रकार मानव का जो आदर्श जीवन है आध्यात्मिक जीवन है उसे सजीव रखने वाले, उसमें तापक्रम का प्रवेश करने वाले सूर्य सन्त होते हैं। वे प्रत्येक युग में, प्रत्येक जाति में हुए हैं। वे जिस संस्कृति के, जिस धर्म के वाहक होते हैं उसके दो भाग होते हैं। एक शाश्वत तत्वों का भाग और और दूसरा अशाश्वत तत्वों का भाग। संसार में सब जगह ये दो बातें ही हमें दिखाई देती हैं। हमारा शरीर बदलता है पर अन्दर आत्मा वही है। समाज के व्यक्ति पैदा होते हैं, मरते हैं लेकिन समाज चिरन्तन है। नदी के प्रवाह में जल की बूंदें हमेशा बदलती रहती हैं, लेकिन प्रभाव स्थिर रहता है। सन्त अनन्त हुए हैं, वर्तमान हैं और भविष्य में भी होंगे। उनकी भाषा, उनका वेष, उनके वाह्य चिन्ह सदा परिवर्तनशील रहेंगे परन्तु उनके उदार विचार विश्व बन्धुत्व की भावना तथा उनके अद्भुत गुणों में कोई परिवर्तन न होगा विश्वकल्याण के लिए उन गुणों की सदा आवश्यकता रहेगी। यद्यपि सन्तों का उज्वल जीवन, उनके लोक विलक्षण आचरण अत्यंत उच्च होते हैं, सामान्य जन-जीवन के लिए उनका स्पर्श करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है फिर भी उनके उदय में विश्व का अभ्युदय

निहित है। वे प्रकाशस्तम्भ होते हैं। उनके अनन्त गुणों की शीतल किरणें सन्तप्त लोक-हृदय में शीतलता का इतना सञ्चार तो कर ही देती हैं जितने से मूर्छित मानवता जीवित रह सकती है।

जब वे अपने जीवन में प्रेम का सागर लहराने लगते हैं तब कहीं प्रेम का बिन्दु हमारे जीवन में आता है। तथा जब वे एक मानवेतर भी पीड़ित प्राणी के प्रति मातृवत् अगाध वात्सल्य उड़ेल देते हैं तब कहीं मनुष्य अपने पड़ोसी पर थोड़ी-सी दया दिखाने के लिए उद्यत होता है। ऐसे परोपकार निरत संत सदा सर्वत्र जनवन्दनीय होते हैं। भारतीय लोक-हृदय पर तो सन्तों ने सदा से से शासन किया है। यहाँ का जन-मानस सन्तों के प्रति जितना आस्थावान है—जितनी अलौकिक श्रद्धा से नम्र है उतना वह किसी राजा महाराजा के प्रति नहीं। उसका यह विश्वास तथा श्रद्धा निरी अन्ध परम्परा पर निर्भर नहीं अपितु वह सब प्रत्यक्ष सत्य तथा गम्भीर अनुभव पर निर्भर है।

हाँ एक बात अवश्य है: वह यह कि ऐसे सन्त विरले होते हैं। एक नीतिकार का कथन है :—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने-वने॥

"प्रत्येक पर्वत में मणियां नहीं होती, प्रत्येक हाथी के मस्तक में गजमुक्ता नहीं होते तथा प्रत्येक वन में चन्दन के वृक्ष नहीं होते, इसी प्रकार साधु पुरुष सर्वत्र नहीं होते" ऐसे ही सन्तों को लक्ष्य करके कबीर साहब ने कहा है—

लालों की नहि बोरियाँ हँसों की नहि पाँत।
सिहों के लहँड़े नहीं, साधु न चलें जमात॥

'लालों की भरी बोरियाँ नहीं होतीं, हंसों की पाँति नहीं होती, सिहों के झुंड नहीं होते तथा सन्तों की जमातें नहीं हुआ करती।"

वास्तव में सच्चे सन्त तो भगवान के—चलते-फिरते, बोलते-चालते विशुद्ध आशीर्वाद होते हैं। उनका दर्शन, तीनों कालों के पुण्य का सूचक है।

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्

—शिशुपाल० स० १ श्लो० २६

भगवान श्रीकृष्ण नारदजी की प्रशंसा करते हुए उनसे कहते हैं "आपका दर्शन, प्राणियों के लिये उनके तीनों कालों के मङ्गल का द्योतक है। जिस क्षण दर्शन होता है, उसी क्षण यह वर्तमान काल के पापों को हर लेता है अतः वर्तमान काल पुण्यवान् बना। तथा वर्तमान का शुभ दर्शन, भविष्य में शुभ होने की सूचना देता है अतः भविष्य शुभ हुआ। पर वर्तमान काल में मिला दर्शन भी भूतकाल में किये गये पुण्याचरणों का पवित्र परिणाम है, अतः इससे भूतकाल का मंगलमय होना सिद्ध हुआ। इस प्रकार आप जैसे सन्तों का दर्शन भूत भविष्य वर्तमान तीनों की पुण्य परम्परा का परिचायक बन जाता है।"

सन्तों की यह महत्ता इसलिए है कि श्री हरि-कृपा के दर्शन सन्त दर्शन के रूप में होते हैं—

'बिनु हरि कृपा मिलें नहिं सन्ता'

जीव का चरम लक्ष्य है प्रभु-प्राप्ति। और वह प्रभु-कृपा पर निर्भर है तथा सन्त प्रभु की कृपा के अवतार होते हैं। उनके बिना प्रभु की प्राप्ति तो दूर, प्रभु-सत्ता का भान भी दुर्लभ है। एक महात्मा का कथन है—"हवा तो पहले भी थी पर पत्तों के हिलने से ही उसकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार भगवान तो पहले से ही विद्यमान है पर भक्तों से ही उसकी प्रतीति होती है" यही कारण है कि सन्त तिलक तुलसीदासजी ने कहा है—

राम ते अधिक राम कर दासा"

श्री मुख का वाक्य है—"मोते सन्त अधिक कर लेखे" पुराण भी इस मत से सहमत है। पद्मपुराण का कथन है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परमम्
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम्।

अर्थ—समस्त आराधनों में विष्णु का आराधन श्रेष्ठ है परन्तु हे देवि ! उससे भी श्रेष्ठ उनके भक्तों का अर्चन है।"

आदि पुराण में लिखा है :—

मम भक्ता हि ये पार्थ ! न मे भक्तास्तु मे मताः
मद्भक्तास्य तु ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः

अर्थ—हे अर्जुन ! जो केवल मेरे भक्त हैं वे मेर मान्य भक्त नहीं पर जो मेरे भक्तों के भक्त हैं वे मेरे परम भक्त हैं।"

इसी आशय से पद्मपुराण में कहा गया है—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये
न ते विष्णोः प्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः

अर्थ—जो भगवान का पूजन तो करते हैं किन्तु उनके भक्तों का नहीं, वे प्रभु के कृपा पात्र नहीं हो पाते। उनकी पूजा, पूजा नहीं, दम्भ है।" श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में स्पष्ट कहा है—'मद् भक्तपूजाभ्यधिका" 'मेरी पूजा की अपेक्षा मेरे भक्तों की पूजा उत्कृष्ट है।'

इस प्रकार हमारे आस्तिक धर्म-ग्रन्थों ने सन्तों की पदवी भगवान से भी ऊँची रक्खी है। परन्तु भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन एक ऐसा अद्भुत दर्शन है जिसने सन्तों के सम्मुख भगवान को मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी, यद्यपि यह बात मैं अपने ढंग से कह रहा हूँ परन्तु प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुरूप ही कह रहा हूँ। जैनदर्शन ईश्वर को नहीं मानता पर उन्होंने सिद्धों का जो वर्णन किया है,उनमें जिन गुणों और शक्तियों का उल्लेख किया है तदनुसार सिद्ध किसी ईश्वर से कम नहीं ठहरता। उनके मत से कर्मबन्धन से मुक्त हुआ जीव, अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति से सम्पन्न हो जाता है और 'तीर्थङ्कर' की पदवी प्राप्त कर लेता है। उसमें उपदेश देने तथा धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित करने की शक्ति आ जाती है। १४ गुण स्थानों को क्रम से पार करता हुआ अन्तिम स्थिति में पहुँचते ही साधक ऊपर उठने लगता है। लोकाकाश और आलोकाकाश के

मध्य में एक नितान्त पवित्र स्थान है। यही स्थान सिद्धों की निवास भूमि है। इसी को 'सिद्ध शिला' कहा गया है। इस अर्हन्स्वरूप का वर्णन जैन विद्वान् चन्द्रसूरि ने अपने 'आप्तनिश्चयालङ्कार' ग्रन्थ में करते हुए उसे परमेश्वर की संज्ञा से विभूषित किया है—

सर्वज्ञो जितरागादिदोष स्त्रैलोक्यपूजितः
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः।

"सर्वज्ञ, रागादिदोष शून्य, त्रैलोक्य पूजित तथा यथार्थ वस्तु का वक्ता परमेश्वर 'अर्हत्' हैं।" इस प्रकार जैनमत की दृष्टि से तो लोक मङ्गल का विधाता ईश्वर नहीं परन्तु अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न कैवल्य पद प्राप्त सिद्ध पुरुष होता है। वस्तुतः सिद्ध पुरुषों को इतना उच्च-पद किसी दर्शन ने नहीं दिया।

ईसाई धर्म तथा मुस्लिम मत में ईश्वर की मान्यता है। उसे न्यायकारी एवं दयालु कहा गया है पर उनका मत है कि वह प्रभु अवतार नहीं लेता। वह तो विश्वसंचालन का सूत्र सन्तों के पवित्र हाथों में सौंप देता है। विश्व-कल्याण के लिए उसका सन्देश या उपदेश उनके दिव्य दूत लाते हैं। महात्मा ईसा को तो प्रभु का प्रिय पुत्र ही कहा गया है। इन मतों के अनुसार संसार को सही मार्ग बताने वाले केवल महात्मा हैं। इस सम्बन्ध में ईश्वर को कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं।

बौद्धधर्म अनीश्वरवादी है, अनात्मवादी है। उसकी दृष्टि में वेदादि आर्षग्रन्थ अश्रद्धेय एवं अनावश्यक हैं। महात्मा बुद्ध का महान उपदेश है "अपने दीपक अपने आप बनो।" परन्तु उनके अनुयायिओं ने अहिंसा तथा स्वावलम्बन के महान् उपदेशक महात्मा बुद्ध को ही ईश्वर मान लिया। उसी की पूजा होने लगी। उसी के विविध अवतार एव जन्म स्वीकार किये गये। इस तरह उस मत में महात्मा बुद्ध ही विश्व विधाता के दिव्यासन पर आसीन हैं। विश्व के इन विविध धर्मों को देखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सन्तों महात्माओं की महिमा सर्वत्र अखण्ड है। कोई ईश्वर को माने या न

माने पर विश्व में शान्ति स्नेह एवं करुणा का व्रत लेने वाले सन्त संसार के लिए सदा श्रद्धेय तथा वन्दनीय होंगे। चाहे विज्ञान की उन्नति धरती के मानव को अन्तरिक्ष की हवा खिलाये या चन्द्रलोक की सैर कराये।

हमारा धर्म तो यह मानता है कि ईश्वर अवतार लेता है। वह अपने दिव्य नाम, दिव्य गुण और दिव्य चरित्रों का विस्तार करता है, जिन्हें अपना अवलम्बन बना के—उन्हें अपने चरित्रों में उतार के सन्त विश्व के सम्मुख व्यावहारिक आदर्श उपस्थित करते हैं। हमारे प्रभु का अवतार यों तो धर्म संस्थापनार्थ होता है परन्तु उनका प्रथम उद्देश्य सन्तों के प्रति स्नेह प्रकट करना तथा उनकी रक्षा करना होता है—गीता गायक का यह उद्घोष प्रसिद्ध है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।

इस श्लोक में अवतार लेने का सर्वप्रथम हेतु साधु-रक्षा है। इसलिये सन्त विश्व के सामने नहीं विश्वम्भर के सामने याचना करते हैं। वह भी अपने लिये नहीं, विश्व के लिये। सन्त ज्ञानेश्वर जी ने कहा है "क्या किसी सम्पन्न व्यक्ति की प्रिय स्त्री भी कभी रूखे सूखे अन्न के लिये किसी से भिक्षा मांग सकती है ?" हे अर्जुन ! राम और कृष्ण आदि रूपों में सगुण मूर्ति धारण करके उनके पास दौड़ जाता हूँ, मेरे राम कृष्ण आदि हजारों नामों को तुम हजारों नौकाएँ ही समझो। धर्म तथा नीति को एकत्र कर उन पर पुण्याक्षत छिड़कता हूं। मैं अविचारों की कालिख साफ कर विवेक का दीपक उज्वल करता हूं जिससे योगियों के लिये वह समय दीपावली के समान हो जाता है। पापों के पर्वत नष्ट हो जाते हैं, पुण्यों का प्रभात हो जाता है।" गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—"सो केवल भगतनि हित लागी" वह केवल भक्तों के लिये प्रकट होता है, सन्त मत से सन्तों का दुलार ही अवतार का मुख्य हेतु है। ऐसे सन्त जहाँ स्वयं अवतीर्ण हों, धन्य है वह देश, धन्य है वह भूमि एवं कुल। कितनी

भाग्यशालिनी है वह भूमि जिसकी गोद में ऐसे महाभाग महात्मा जन्म लेकर उसकी धूल में लोट-पोट होकर बड़े होते हैं। ऐसे ही एक सन्त-रत्न, अर्चनीयचरण एवं वन्दनीय मूर्त्ति अनन्त श्रीविभूषित 'करह वाले बाबा महाराज थे, जिनका साधु-मार्ग का धन्यनाम श्री श्री १०८ बाबा श्री रामरतनदास जी महाराज था।

यों तो बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा हो गये हैं। उनकी सिद्धाई की कथाएँ गाँवों के बूढ़े बड़े अब तक सुनाते हैं। उनके आश्चर्यपूर्ण चरित्रों को सुनकर श्रोता का हृदय श्रद्धापूर्ण हो जाता है। कुछ सन्त ऐसे भी हुए जो शास्त्रों के मर्मज्ञ थे, आर्षग्रन्थों की जटिल ग्रन्थियों के खोलने में कुशल थे, सुन्दर वक्ता एवं व्याख्याता थे और अब भी हैं, जिनके प्रति शिक्षित समाज में अपरिमित आदर है। ऐसे भी सन्त हैं जो संयम की मूर्ति हैं, नियमों के बड़े पक्के हैं पर ऐसे योग्य सन्तों के दरबार में जो सभ्य हैं, सुसंस्कृत हैं, शिक्षित हैं, सम्पन्न हैं, योग्य हैं या उनके अनुगामी हैं उन्हीं का प्रवेश होता है, उन्हीं की पूछ होती है अथवा वही लाभ उठा सकते है, पर पूज्य बाबा महाराज का तो दरबार ही कुछ अनोखा था। तुलसीदास जी की निम्नलिखित पंक्ति में उसकी ठीक व्याख्या निहित है—

"यह दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई"

उनके हृदय में तो प्राणीमात्र के प्रति करुणा का अगाध एवं अखण्ड स्रोत था, यह सत्य है कि मानव इस सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है, मानों भगवान् की वह अन्तिम कृति है। उसके पश्चात् रचना के लिये शेष कुछ बचा ही नहीं। और ठीक भी है, मानव तन साधन का धाम—मोक्ष का द्वार है। ऐसे स्वर्णिम शरीर के आवरण में आवृत आत्मा तो सर्वाधिक वन्दनीय है परन्तु पूज्य चरणों की दृष्टि इससे भी उच्च थी। उनकी पारदर्शी दृष्टि ऊपरी परतों को पारकर झिलमिले परदे में छिपी आत्मा की झलक पा चुकी थी। उनकी दृष्टि में यह व्यवहार अग्राह्य था कि मानव अपने मार्ग में मानव को तो दाहिने लेकर उसे बचाता हुआ चले और मानवेतर लघु जीवों को पैरों तले

कुचलता चले। पूज्य चरणों की निष्ठा तो 'सियाराममय सब जग जानी' की थी।

यह सिद्धान्त केवल मौखिक या मान्यता मात्र में ही विचारणीय नहीं था अपितु व्यवहार में आचरणीय था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे मानवता के प्रति उचित न्याय नहीं करते थे। वे वास्तव में उसके सच्चे पारखी थे। उनके पास शिक्षित आते, अशिक्षित भी आते, सज्जन आते, असज्जन आते, उच्च पदाधिकारी पहुँचते, साधारण व्यक्ति भी पहुँचते। सबके प्रति समान व्यवहार, सबके प्रति वही स्नेहमयी मुस्कान तथा सबके प्रति वही थोड़े से स्नेहसिक्त निश्छल वचन। न किसी उच्च व्यक्ति के प्रति कोई आकर्षण न तुच्छ व्यक्ति के प्रति उदासीनता। अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ कई बार आई पर पूज्य महाराज जी के सौम्य मुख-मण्डल पर शान्ति के साथ खेलती हुई मुसकान की क्रीड़ा में चिन्ताकी रेखाओं ने कभी खाई नहीं खींची। जहाँ उनकी प्रशंसा एवं स्तुति करने वाले पहुंचते वहाँ उन्हें खरी खोटी सुनाने वाले विकट खोपड़ी के लोग भी पहुँच जाते, इनमें द्वितीय वर्ग के लोग विशेष कृपापात्र होते थे।

अत्यंत दीनदयाल। शंकर जैसे बड़े भोले और शंकर जैसे दिन रात राम नाम के जापक। इसी स्वभाव के कारण उन्हें शंकर की बरात सदा घेरे रहती थी, शिवजी की विचित्र बरात की तरह लूले लँगड़े, दीन-हीन, उद्दण्ड और नम्र, विकट वेष और सौम्य रूप के लोग उनके निजी परिकरों में से थे। उनकी इस विचित्र रहनी के मारे बड़े-बड़े धैर्यशाली दूर भागते, उन पर झुँझलाते, अप्रसन्न होते पर वे अपनी धुनि में रहते। वे तो द्वन्द्वात्मक विश्व का नमूना सामने रखकर साधकों को पाठ पढ़ाने बैठे थे। जिन्हें कोई न पूछता उन्हें सबसे पहले पूछकर आदर देतें और आनन्दस्नात नयनों से, मुसकान-मण्डित मुख से तथा आशीर्वादात्मक मुद्रा में उठे अपने करकमल से कृपा बरसाकर उन्हें अपने समीप बिठाके उन्हें अपने इष्ट का रूप मानकर कृपा-पुलकित हो उठते थे, बलैया लूँ ऐसे स्वभाव की।

—'अस स्वभाव कहुँ सुनहुं न देखों'

हम पूज्य परम गुरु देव की जन्मभूमि 'जरारे' ग्राम में उनके जन्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ घटनाओं का पता लगाने गये थे। सम्पूर्ण ग्राम परिश्रम का धनी एवं आस्तिकता की प्रतिमूर्ति है। वहाँ के लोग सुखी, प्रसन्न सच्चे हृदय सरल-स्वभाव तथा निष्कपट व्यवहार के मिले। देखने में मुझे ऐसा लगा मानों यहाँ कलियुग का प्रवेश नहीं है। ऐसे ही रत्नों की खान से तो वह अनमोल हीरा निकला था। एक नीतिकार ने कहा है—'आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः'' 'पद्मरागमणियों की खान में काच के पोत कहां ?''

पूज्य चरणों का जीवन एक जन्म की साधना का फल नहीं था, वह तो न जाने कितने ही जन्मों की अनवरत तथा सच्ची साधना का फल था। उनकी जीवनी तो हमें अपने जीवन में उतारनी थी—हमें अपने हृदय में लिखनी थी परन्तु आज हम उनकी जीवनी को कागज पर प्रस्तुत कर रहे हैं, यह एक बिडम्बना की बात है क्योंकि हम मानते हैं कि महापुरुषों को न मूर्ति में ही पाया जा सकता है और न जीवनी में उन्हें तो हम अपने अन्तस् में ही पा सकते हैं। भला दीपक की लौ को भी कहीं बैंकों में जमा किया जा सकता है ? या उसे कागज पर चित्रित कर कहीं अँधेरा दूर किया जा सकता है ? वस्तुतः उसे पाने के लिये, उसे सतत प्रज्वलित रखने के लिये स्नेह की आवश्यकता होती है। इस तरह एक दीपक की लौ को दूसरा सस्नेह दीपक ही ग्रहण करता है। इस दृष्टि से किसी भी महापुरुष को हम अपने विकास में ही प्राप्त कर सकते हैं परन्तु प्राप्तव्य तक पहुँचने के लिये प्रतीक की, उन्नत प्रासाद पर पहुँचने के लिये सोपान-मार्ग की, और जैसे विद्या में प्रवेश पाने के लिये वर्णमाला की आवश्यकता होती है वैसे ही अपने जीवन को उचित दिशा प्रदान करने के लिये हमारे सम्मुख आदर्श चरित्रों की रूपरेखा का होना परमावश्यक है। क्योंकि बिना आधार के चित्र नहीं बनाया जा सकता, सन्तों के चरित्र सम्मुख रहते हैं तभी किसी न किसी को प्रेरणा मिलती है।

भूमि विस्तृत है, काल अनन्त है, जीव अनन्त हैं। यदि कहीं, कभी और किसी एक हृदय को भी इस चरित्र से प्रेरणा मिलती है तो मेरा सम्पूर्णश्रम सफल हो जायगा। वस्तुतः मैं तो इतने से ही सन्तुष्ट हूं कि मैंने अपने जीवन में सर्वप्रथम पुस्तकाकार कुछ लिखा तो वह सिद्ध सन्त का पावन चरित्र है जो आपके सम्मुख है। कृति प्रथम है प्रयास प्रथम है अतः इसमें अनेक त्रुटियां हो सकती हैं किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि सन्त चरित्रों के अध्येता श्रद्धालु होते हैं, गुण ग्राही होते हैं अतः उनकी श्रद्धा-धारा में मेरी समस्त त्रुटियां उपलखण्डों की तरह न जाने कहां वह जायगी।

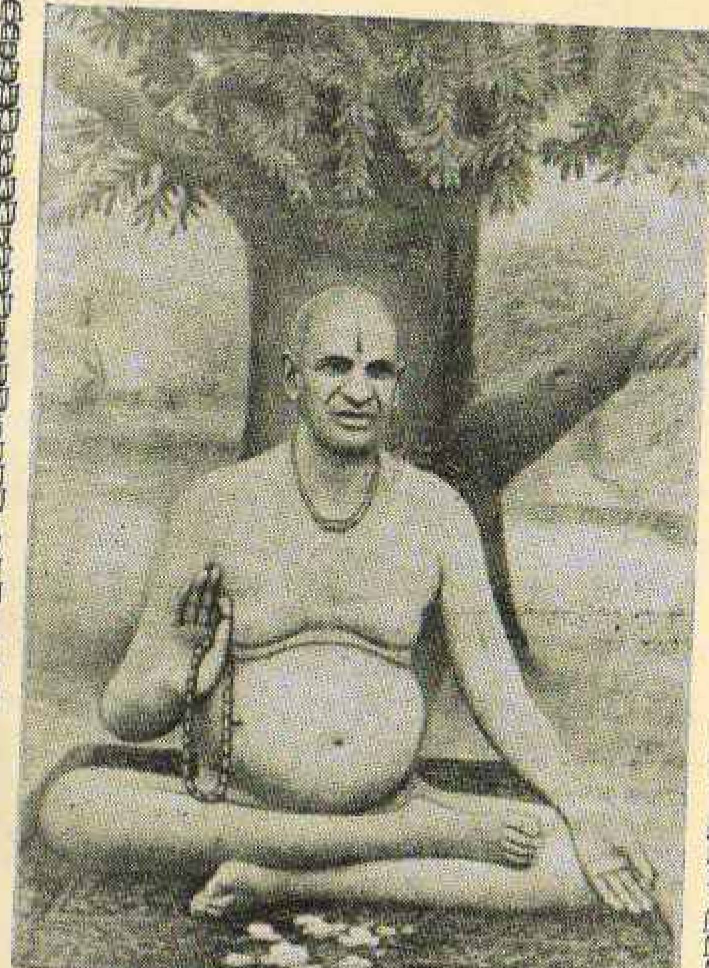
इस कार्य को मैं अकेला कदापि न कर सकता था। इसे सफल बनाने का श्रेय तो गुरुजनों की कृपा को, मित्रों के स्नेह तथा श्रद्धालुओं के प्रोत्साहन को है। जीवनी का अधिकांशतः चरित्र-परिज्ञान मुझे पूज्य श्री छोटे महाराज जी के द्वारा प्राप्त हुआ है। बाल जीवन-विषयक जानकारी, परमगुरुदेव की जन्मभूमि के लोगों से तथा नूराबाद के देवीराम बौहरे से प्राप्त हुई। छोटे रघुवीरदास जी ने घटना-क्रम एवं घटना-काल के निर्णय में मुझे विशेष सहायता दी। विश्वास-वर्धक एवं भावात्मक कुछ चरित्रों की सूचना मुझे मनीरामदास जी पुजारी ने दी। स्थान की सेवा करने वाले, विनोद-प्रियता के नाते गांव-गांव, गृह-गृह के सुपरिचित साधु धर्मदास जी ने कुछ बातें बताई।

इस चरित्र के लिखने में मेरा जितना समय बीता, वह उनके पवित्र-चरित्रों के चिन्तन में बीता है, मस्तिष्क सदा उसी ओर एकाग्र रहा। अतः मुझे बड़ा सुख मिला, सुखद शान्ति का स्वाद मिला।

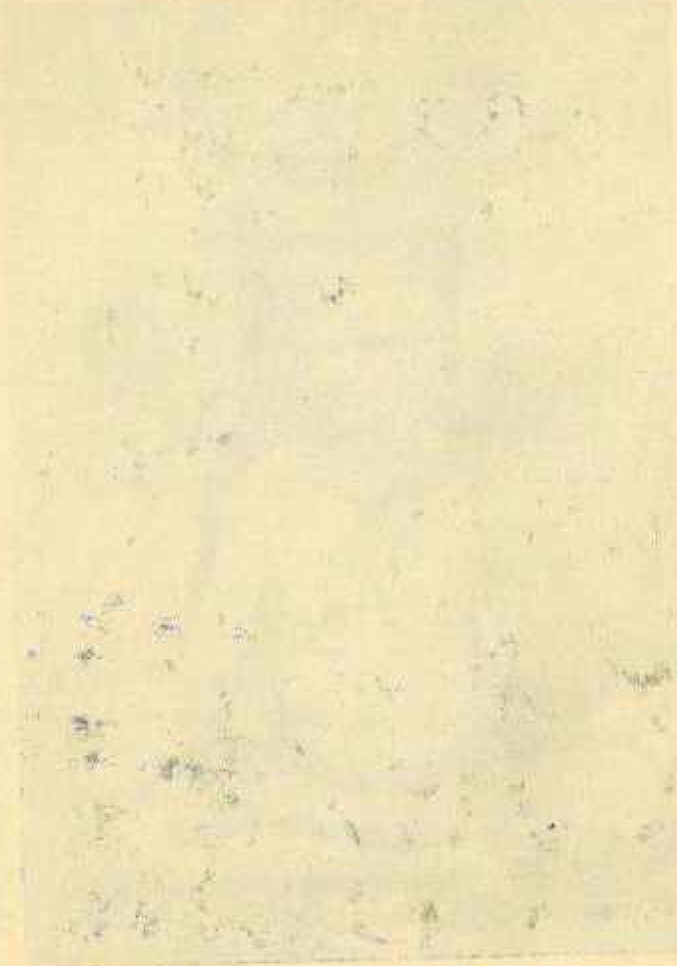
ये स्मरणीय क्षण मेरे जीवन के वे सुरभित सुमन हैं जिनकी मधुर-गन्ध सदा महकेगी।

दो०—जहं सज्जन तहं प्रीति है
—प्रीति तहां सुख ठौर,
जहां पुष्प तहं वास है
जहां वास तहं भौर।

—सन्तचरण रेणु
रामजी ब्रह्मचारी
साहित्य व्याकरणाचार्य



श्री १०८ श्री रामरतनदास जी महाराज, फरह



जन्म और बाल्य जीवन

किं कुलेन विशालेन शीलमेवात्र कारणम्
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु

—सूक्ति रत्नाकर

"विशाल कुल होने से कोई लाभ नहीं, लोक में शील की ही प्रधानता होती है। क्या सुगन्धित पुष्पों में कीड़े उत्पन्न नहीं होते ?"

महापुरुष समस्त विश्व की निधि होते हैं। उनकी ज्ञान-ज्योति निखिल जन-जीवन के पथ को आलोकित करती है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से सम्पूर्ण आकाश का स्पर्श करता है, धरती के विविध रूपों का स्पर्श करता है पर आकाश या धरती सूर्य को अपनी सीमा में बाँध नहीं सकते। इस दृष्टि से वह सबका है और सबसे अलग है। फिर भी वह पूर्व में उदित होता है अतः पूर्व दिशा के गौरव को कोई छीन नहीं सकता क्योंकि निखिल विश्व का प्रकाशक ज्योतिष्मान् सूर्य सर्वप्रथम प्राची के ललाट का ही अरुणिम तिलक बनता है। महापुरुष देश के बन्धनों से मुक्त हैं वे सर्वदेशीय होते हैं फिर भी वे जिस कुल को अपने जन्म से अलंकृत करते हैं उस कुल के सौभाग्य को कौन न मानेगा ?

दो०—सोकुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत
श्री रघुबीर परायन जेहि नर उपज विनीत

—रामचरित्र मानस

पूज्य परम गुरुदेव की जन्म भूमि होने का अहोभाग्य वैसे तो

समस्त भारत-भूमि को है पर उसमें भी उसका हृदय स्थानीय मध्य-प्रदेश अधिक भाग्यवान है, परन्तु उसमें भी मुरेना-मण्डल में जी० आई० पी० रेलवे के सांक स्टेशन से दक्खिन की ओर लगभग आध-मील की दूरी पर सांक-नदी के हरित-तट पर स्थित 'जरारा' ग्राम सर्वाधिक गौरवशाली है। पूज्य चरणों की जन्म-भूमि होने का परम सौभाग्य उसी ग्राम को प्राप्त है।

संवत् १६४८ की बात है। तोमर गोत्रीय गुर्जर क्षत्रियों के एक धर्मनिष्ठ परिवार में विजयकुँवरि देवी की मंगलमयी कोख से श्री चतुर्भुजसिंह के यहाँ श्रीराम-विवाह की शुभतिथि अगहन सुदि पंचमी के दिन एक असामान्य बालक ने जन्म लिया। बड़ी साध एवं कोटि-कोटि कामनाओं तथा विविध मनौतियों के फल स्वरूप पुत्र का प्यारा मुख देखने को मिला था अतः माता पिता की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या था। ग्राम की,पास पड़ौस की तथा कुल-गोत्र की सौभाग्यवती स्त्रियों ने बालक का मुख देखा। राई नोंन उतारा। मंगल गीत गाये। सम्पूर्ण ग्राम में सोहर के स्वरों ने आनन्द-मंगल की सूचना दी। अज्ञात रूप से ही, बिना विशेष नाते-रिश्ते के भी सबके हृदय में आनन्द की लहर दौड़ गयी सारा ग्राम उस सुख का भागी बना। ऐसा लगता था कि उत्पन्न बालक भविष्य में समग्र ग्राम का गौरव बनेगा। केवल गृह-दीपक या कुल-दीपक ही नहीं, ग्राम-दीपक भी बनेगा, पर सबको क्या पता था कि बचपन से ही भोलेपन का अवतार छोटा-सा यह बालक भविष्य में अनेक गृहों, अनेक कुलों का अनेक ग्राम एवं अनेक नगरों का महान् गौरव बनेगा तथा भारतीय सन्तों की रत्नमाला का एकदेदीप्यमान रत्न होगा। तभी तो माता-पिता ने उनका नाम 'रत्नसिंह' रक्खा। वस्तुतः नाम बड़ा ही सार्थक सिद्ध हुआ।

वे सिंह थे—निर्भयता पूर्वक विरोधी परिस्थितियों का सामना करने के लिये और वे रतन थे—मानव समाज में एवं सन्त-समाज में। पर उनका सिंहत्व केवल उन्हीं के लिये था, केवल विषम परिस्थितियों के विरुद्ध था। जन-जन के लिये तो वे 'नर भूषण लोचन सुखदाई' हृदयहारी रत्न थे। यही कारण है कि लोग उन्हें 'रतना, के रूप में जानते थे। सबके पुकारने का दुलारा नाम यही था। नाम ही नहीं काम भी उनका ऐसा ही था। बिलकुल-विचित्र स्वभाव लेकर आये थे वह। बहुत से लोगों की धारणा है कि शैशव का चाञ्चल्य बुद्धि-मत्ता का सूचक है। जो बालक बचपन में अधिक चपल होते हैं वे भविष्य में अधिक चमकते हैं, तेज बुद्धि के होते हैं और वस्तुतः ऐसे ही लोग लोक में व्यवहार-कुशल एवं वाक्-पटु होते हैं। पर यहाँ की बात ही दूसरी थी। चुपचाप गुम-सुम बैठे रहते। उन्हें अधिक रोना-धोना तो जैसे आता ही नहीं था। उनका यह स्वभाव माता के लिये बड़ा सुविधा-जनक था। वे अपना काम निर्विघ्न किया करती। रतनसिंह को जहाँ बिठा दिया जाता, वहीं बैठे रहते, अपने आप से ही खेला करते। हँसा करते। आखिर जन्म के योगी ठहरे! इस बाल-यती के स्वभाव को न समझने के कारण कुछ लोग कहते—'लड़का बड़ा बुद्धू है, इसमें लड़कों-जैसा लड़कपन है ही नहीं। कोई कहते-शारीरिक दुर्बलता है इसीलिये कम बोलता है, सुस्त रहता है। खूब दूध-ऊध पियेगा ठीक हो जायगा" पर असली बात को कौन जान सकता है। योगी की परख सिवा योगी के कौन कर सकता है। धीरे-धीरे बालक रतना कुछ बड़ा हुआ। वह घर से बाहर खेलने लगा। रतना के साथ-साथ माता पिता की आशाएँ भी बढ़गयी पर इन आशाओं के मूल में अन्तर्यामी की लीला कुछ और ही चल रही थी।

रतना अभी छोटे ही थे कि उनके पिता चतुर्भुजसिंह का स्वर्ग-वास हो गया। पर इस घटना का उन पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इस दुःख को उनकी अबोध अवस्था ने ही बाँट लिया। उन्हें क्या पता था कि उनका उन्मुक्त एवं निश्चिन्त होकर खेलने खाने का सौभाग्य जाता रहा। हाँ, माँ दुःखी रहतीं, वह रोतीं, उदास रहती तो बालक रतना भी अनमना हो जाता था। आगे चलकर इन्हें पिता का अभाव अखरा। गृहस्थी का भार अब

केवल माँ सँभालती थी और रतनसिंह माँ के आज्ञाकारी बेटे थे। पर इस कठिनाई में उनकी दैवी शक्ति को और अधिक बल मिला। जन्म से ही वैराग्य की जिस छाया का आभास था वह गहरी होकर स्पष्ट होने लगी।

पिता के न रहने पर अकेली माता रह गयीं। माता तो ममता की मूर्त्ति होती ही है फिर उस मां के वात्सल्य का क्या कहना जिसके नेत्रों का प्रकाश, वृद्धावस्था का एकमात्र सहारा एक ही पुत्र है। माता बिजयकुँवरि बालक रतना के साथ प्रत्येक कार्य में छाया की तरह लगी रहतीं। पर बालक को यह बात अच्छी न लगती। वह बराबर अकेले रहने का प्रयत्न करता। काम करता तो अकेले, उठता बैठता तो अकेले, केवल माता के पास सायंकाल तब बैठता था जब माता रामायण-महाभारत सम्बन्धी कुछ कथाएँ कहतीं। बड़े चाव से सुनते रतनसिंह। माता ने देखा कि रतना में अनेक गुण प्रकट होने लगे हैं। गोब्राह्मण सेवा, साधु सेवा, दीन हीनों की सेवा और ईश्वर के प्रति अटूट अनुराग, ये दुर्लभ भागवत-गुण अल्पवयस्क बालक में दिखने लगे।

रोला

वसु युगाङ्क शशि गणित सुभग संवत् अति पावन
तेहि महँ षट् ऋतु मध्य धन्य ऋतु शिशिर सुहावन
तेहि महँ अगहन मास पक्षसित मंगल कारी
धन्य धनिष्ठा नखत पंचमी तिथि अति प्यारी
ता दिन कोउ एक जननि सुकृत मूरति बड़ भागिनि
सुखद बेदना प्रसव करन सों सही सुहागिनि
संत पूत जनि भई धन्य जो अखिल भुवन में
बामन बटु जनि पूज्य अदिति ज्यों सुर मंडल में
रतनवास से सन्त जहाँ प्रकटे जगपावन
विजय कुँवरि की कोखि धन्य सब भाँति सुहावन
धन्य वहाँ की भूमि प्रथम पग टिके जहाँई

जाने काढ्यौं नार धन्य बड़ भागिनि दाई।
जिन पोसे पय प्याय धन्य सो पुन्य पयोधर
जहँ सोये सानन्द धन्य सो गोद गुनाकर।
जथा नन्द वसुदेव अवध भूपति श्रुति गाये
तथा चतुर्भुजसिंह पिता पद पाय सिहाये।
धन्य जरारो ग्राम धन्य धूली गलियनि की,
जिन बीथिन में रची रुचिर लीला शिशुपन की।

वास्तव में यह एक विचित्र बात थी। वे किसी पाठशाला में पढ़ने नहीं गये, तब शास्त्रीय सिद्धान्तों के ज्ञान की चर्चा ही दूर थी; फिर भी उनमें अद्भुत गुण प्रकट होने लगे वस्तुत: वहाँ तो 'उर प्रेरक रघुवंश विभूषण' थे। सब कुछ अन्तःप्रेरणा का ही सुपरिणाम था। उन्हें शिक्षा क्यों न प्राप्त हो सकी, इस विषय में कारण स्पष्ट थे। एक तो उन दिनों नागरिक चेतना से शून्य पिछड़े हुए ग्रामों में राज्य की ओर से कोई प्रबन्ध नहीं था। दूसरे, लोगों की आर्थिक दशा बहुत गिरी हुई थी। पर इनका तो जिस परिवार में जन्म हुआ था वह परिवार कितनी ही पीढ़ियों से शिक्षा से कोसों दूर था। उसका तो सदैव यही लक्ष्य रहा कि दुधारू पशुओं का पालन, कृषि करना और मुख्यत: अपने शरीर को खूब हृष्ट पुष्ट एवं बलिष्ठ रखना। इन सब कारणों से उनकी लौकिक-शिक्षा का श्री गणेश तक न हुआ परन्तु हम तो इसे प्रभु की कृपा ही मानते हैं। उन्हें इन बाह्य शिक्षाओं की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। जिस शिक्षा का उद्देश्य केवल उदर-पालन है, कर्तव्य पालन नहीं, तथा जिसका लक्ष्य अपने दोष छिपाना और दूसरे के दोषों को प्रकट करना है, जिसका धर्म और ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है वस्तुत: वह विद्या नहीं अविद्या है। 'सा विद्या या विमुक्तये' 'विद्या वह है जिससे प्रभु-प्राप्ति हो' और इस परिभाषा के अनुसार रत्नसिंह अवश्य ही विद्यावान् थे। क्योंकि प्रभु-प्राप्ति के

लिये जिस साधन की आवश्यकता होती है जो लक्षण आवश्यक होते हैं वे सब इनमें स्वतः आविर्भूत थे।

गो सेवा

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मागामनागा मदितिं वधिष्ट।
ऋग्वेद ८।१००

'गाय रुद्रों की माता है, वसुओं की पुत्री एवं आदित्यों की भगिनी तथा अमृत की केन्द्र है। मनुष्यो ! उस निरपराध अदिति-रूपिणी गौ का वध न करो।'

वस्तुतः आदिकाल से भारतीयों के हृदय में गोजाति के प्रति अगाध श्रद्धा रही है। वैदिक-युग तो गायों के उत्कर्ष का महान् युग था, क्योंकि हविष्य के बिना यज्ञ नहीं हो सकता था और हविष्य बिना गोदुग्ध के नहीं बन सकता था। बिना गोबर के यज्ञवेदी पोती नहीं जा सकती थी और बिना गो-करीषों (कंडे) के यज्ञाग्नि प्रज्वलित नहीं किया जा सकता था। बिना 'पंचगव्य' पान किये यजमान यज्ञ करने का अधिकारी नहीं हो सकता था तथा बिना गोमूत्र और गोबर के पंचगव्य बन नहीं सकता था। गोघृत बिना हवन नहीं हो सकता था और हवन के बिना यज्ञ हो कैसे सकता था ? इन सब कारणों से हमारे यहाँ गोजाति का अद्वितीय महत्व सदा से रहा है, और वह केवल भावनात्मक दृष्टि से नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी था। अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि जहाँ तक सूर्य का प्रकाश जाता है, गायें सबको समान रूप से लाभ प्रदान करती हैं। देव, मनुष्य, राक्षस सभी उसके दूध से लाभ लेते हैं।" हमारे चरितनायक रतनसिंह भी अद्वितीय गोभक्त थे, उनमें अद्भुत गो भक्ति थी, घर में दो गायें थीं। वे उन्हें चराने जाते—नंगे पैरों, खुले सिर। माता कहती—"बेटा रतना, पैरों में जूता तो पहन जा", "मां !

मैं कैसे जूता पहनूं ? गैया माता के चरणों में भी तो जूता नहीं है ! वह भी नंगे पैरों हैं, मैं भी नंगे पैरों जाउंगा" यह उत्तर था रतनसिंह का। चराने के लिये जब गायें खोलते तो सबसे पहले गायों के चरण छूते। यह माता की शिक्षा थी। 'गावो विश्वस्य मातरः' 'गायें विश्व की माताएं हैं।"

वेद की इस शिक्षा का यहाँ क्रियात्मक रूप से पालन होता था। चरण छूकर गायें खोलते और 'कन्हैया' (एक ग्राम-गीत) गाते हुए गोचारणार्थ चले जाते। हाथ में डंडा अवश्य रहता था पर लोगों का कहना है कि डंडे से गाय मारते उन्हें कभी नहीं देखा केवल डराने भर को डंडा रखते थे ताकि गायें किसी दूसरे के खेत में न जा लगें। दिन भर गायें चरतीं और स्वयं हरी-हरी घास खोद लेते। सायंकाल घर लौटते। घास को नदी में धोकर लाते और उसे गायों की नाद में डाल देते। गो-सेवा का यह कार्य उन्हें सबसे अधिक पसन्द था। एक दिन की बात है, प्रातः गोचारणार्थ गायें खोलने पहुँचे। जहाँ गायें बँधती थी वहाँ रतना के पैर में एक कांकड़ गड़गया और उसके साथ ही इनके मन में एक बात भी कंकड़ की तरह गड़ गयी। उन्होंने देखा कि ऐसे छिदने वाले नुकीले कंकड़ यहाँ बहुत पड़े हैं और मेरे तो वे पैर में ही गड़े हैं पर गायों के तो बैठते समय उनके पेट में गड़ते होंगे, थनों में चुभते होंगे जो बहुत सुकोमल होते हैं।' बस इतना ध्यान में आना था कि दौड़े-दौड़े गये और खूब मुलायम पीली मिट्टी खोद-खोद कर लाये। उस मिट्टी को गायों के नीचे बिछाया। मोगरी से कूटकर अच्छी तरह सुकोमल किया जिससे गायों को बैठने में उस पर गद्दा जैसा आनन्द आये गायें अब उसी पर बँधती और बैठती तथा कृतज्ञता भरी सजल आँखों से रतना पर मूक आशीर्वाद की बरसा करतीं। यह गोभक्ति मौखिक नहीं क्रियात्मक थी, फलतः केवल उसी गाँव में नहीं, आस-पास के अन्य गाँवों में भी उनकी जैसी हृष्ट-पुष्ट एवं दर्शनीय गाय दूसरी नहीं थी। उन गायों की सन्तान-परम्परा में आज भी एक गाय उनके परिवार वालों के यहाँ विद्यमान है जो कि वस्तुतः उनके

अनुरूप ही है। गोसेवा का यह भाव उनके हृदय में अधिक से अधिक दृढ़ होता गया। सभी कार्यों में उन्हें इस बात का ध्यान रहता था।

उन्हें खेत पर रखवाली करने भेजा जाता, वे बड़ी प्रसन्नता से चले जाते। एक बार की बात है, खेतों में पका हुआ गेहूँ, लहलहा रहा था, रतना खेत की मेड़ पर बैठे थे—न जाने किस ध्यान में। इतने ही में एक तरफ से कुछ गायें खेत में घुसने लगी। गायों की खड़बड़ाहट इनके कानों में पड़ी, आँख उठा के देखा तो रतनसिंह धर्मसंकट में पड़ गये, क्योंकि एक ओर तो खेत रखाने की माता की आज्ञा थी, दूसरी ओर कृष्ण-कन्हैया की गैयाँ थी। वे बिना बुलाये अतिथि-सत्कार ग्रहण करने बड़ी आ रहीं थी। यदि गायों को नहीं भगाते तो वे आनन-फानन में मनो अनाज का सफाया किये देती हैं, भगाते हैं तो गोमाता का अपमान होता है। 'धर्म सनेह उभय मति घेरी' वाली समस्या सामने थी। इस समस्या का उन्होंने एक समाधान ढूँढ़ा। वे खेत की मेड़ पर खेत की ओर से मुँह फेरकर बैठ गये। बस फिर क्या था, लपक कर गो माताओं ने खेत में भोग लगाना शुरू कर दिया और रतना ने गायों को चरते देखा ही नहीं, भला भगाते कैसे? किसी ने जाकर माता विजयकुँवरि से कह दिया कि खेत में गायें चर रही हैं। माता दौड़ी हुई आई, देखा, गायें बेखटके खेत खा रहीं हैं और उनका सपूत खेत की मेड़ पर पच्छिम की ओर मुँह घुमाये बैठा है। बहुत गुस्सा हुईं, गायें भगाईं, रतना को बहुत डाँटा तो बिलकुल भोले भाव से बोले—माँ! मैं सौगन्ध खा के कह सकता हूँ कि मैंने गायों को देखा तक नहीं, बात तो ठीक ही थी। उनका यह उत्तर ऐसा था मानो गोपाल कन्हैया अपनी यशोदा मैया से सब कुछ जानते हुए भी बड़े भोले बनके बोल रहे हैं। गो-भक्ति का यह अतीव श्रद्धापूर्ण भाव उनके मन में सदा रहा। समझदार हो जाने पर भी उनकी इस भावना में तनिक भी त्रुटि नहीं आई।

जीविका के लिये इनके पास एक-दो खेत थे। रतना तब घर का सभी काम करने लगे थे। गायें चराते, हल चलाते और गाड़ी भी हाँकते थे। इन सभी कार्यों में गाय-बैलों का घनिष्ठ सम्पर्क था। पर इस अति परिचय के कारण गोजाति की कभी अवज्ञा नहीं की। उनके प्रति वे सदा सदय रहे। लोगों का कथन है कि ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं जब झुँझला के उन्होंने गाय बैलों को मारा हो। यहाँ तक कि व्यवहार में लोग इनके आचरण को अत्यन्त उपहासास्पद मानते थे और उनकी यह मान्यता स्वाभाविक ही थी। क्योंकि लोगों की दृष्टि में सिद्धान्तों की मूल, भावना में होती है व्यवहार में नहीं परन्तु असाधारण व्यक्ति की दृष्टि में व्यवहार ही सिद्धान्त की कसौटी बनता है। ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त, बड़ी-बड़ी बातें यदि व्यवहार में आचरण में नहीं उतरती तो वे व्यर्थ है। रतनसिंह तो असामान्य व्यक्ति थे, वे किसी की हंसी की तनिक परवाह नहीं करते थे। खेत में हल जोतते, बैल अपनी तबियत से चलते। यदि अधिक धीमे चलने लगते तो ऊपर पैनियाँ घुमाते हुए कहते—'हाँ भैया चलो।" बगल के खेतों में हल चलाने वाले दूसरे किसान व्यङ्ग्य कसकर अपने बैलों को सम्बोधित करते हुए कहते-'हाँ भैया चलो' उधर तो घोड़े जुते हुए हैं, क्या कहने हैं, लगता है अरबी घोड़े दौड़ रहे हैं—अरे वाहरे रतनसिंह! रतनसिंह सब सुन लेते और कहने सुनने का सारा असर अपनी मन्द मुस्कान के रूप में बिखेर देते। किन्तु अपने बैलों की पीठ पर प्यार भरी थपकी को छोड़कर पैनियाँ कभी नहीं छुआते थे। उनकी यहीं रीति गाड़ी हाँकने में भी थी। ऐसी थी उनकी गोभक्ति।

अपार उदारता

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

"यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार के विचार तुच्छ हृदय वाले रखते है किन्तु उदार चेताओं का अपना कुटुम्ब तो सारी ही वसुन्धरा है।"

औदार्य गुण मानवता का पूर्ण लक्षण है उसके बिना अनन्त कला-कुशल व्यक्ति को भी महान् आत्मा' के पद से विभूषित नहीं किया जा सकता। महाभारत एवं कई पुराणों में कहा है कि जो व्यक्ति विशाल शैलमालाओं को, दूर-दूर तक विस्तृत बनश्रेणी को और ग्रह-नक्षत्र-विभूषित नभो-मण्डल को ध्यान से देखता है उसका हृदय विशाल होता है, विचार उच्च होते हैं। इस कथन में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सीमित स्थान, सीमित-निवास आदि ममता के छोटे-छोटे घेरे हैं। ममता जब इन सीमित परिधियों में कसने लगती है तब वह मानवता को संकीर्ण बना डालती है, मनुष्य की दृष्टि संकुचित होकर क्षुद्र हो जाती है। उदारता ठीक इसके विपरीत होती है उसका रुख सीमित से असीमित की ओर होता है। परन्तु इस गुण का निर्माण नहीं विकास किया जा सकता है, इसके बीजों को तो प्रभु की कृपा ही बोती है। हमारे चरित्र-नायक में इस गुण के अंकुर १४-१५ वर्ष की अवस्था से ही फूटने लगे थे। वे साधु ब्राह्मणों का आदर तो करते ही थे। जहाँ कहीं देख लेते, प्रणाम अवश्य करते थे। इस कार्य में उनसे कभी चूक नहीं होती थी। पर एक विलक्षण बात और थी। वह बात जातीय परिधि के बाहर की थी।

वे भूखे प्यासे को देख नहीं सकते थे। भूखा-प्यासा चाहे किसी भी जाति का हो। यहाँ तक कि चाहे वह भंगी, चमार ही क्यों न हो, उसे अपने घर बुला ले जाते और माता की अनुनय विनय कर उसे अवश्य भोजन दिला देते। यद्यपि इनके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी; इसलिये माँ कभी-कभी इन पर बहुत खीझ उठती पर रतना का दुलार उसे रखना ही पड़ता था। वे खेतों पर जाते, हल चलाते या गाड़ी लेकर आते तो माता रोटियाँ बनाकर साथ रख देती थीं। गाय चराते समय यदि किसी ग्वाल के पास रोटियाँ न होतीं या कम होती तो रतनसिंह झट से अपनी रोटी दे देते। यदि कोई कहता-अपनी रोटी मुझे दे दोगे तो तुम क्या खाओगे ? रतना मुसकरा के कहते—आज मैं घर से इतना खाके चला था कि पेट में पानी

पीने को भी जगह नहीं है।" उनके औदार्य गुण की प्रशंसा करते हुए उनके साथ गाय चराने वाले कई वृद्ध अपनी आँखों में आँसू भर लाते हैं। उनकी इस व्याकुलता को देखकर मुझे एक पौराणिक घटना याद हो आई। समुद्र से चन्द्रमा निकाल लिया गया तो समुद्र के जल-जीव बड़े खिन्न हुए। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि चन्द्रमा रात दिन हमारे साथ रहा पर हम उसे समझ न पाये। साथ रहके भी उसके अमृत से वञ्चित रहे। इसी प्रकार रतनसिंह रात दिन इनके साथ रहे, उनमें उठे बैठे, हँसे खेले पर उनके गुणों की ओर ध्यान तब गया जब वह छोड़कर चले गये। फिर भी उन्हें इस बात का स्वाभिमान है कि वे हमारे हैं। उनकी कीर्ति में हमारा भी साझा है उनकी राम-भक्ति के साथ, उनकी महिमा और प्रभाव के साथ हम लोग भी सदा रहेंगे—उनकी यही भावना है।

परधन-निधन समान है

वरं दारिद्र मन्यायप्रभवाद् विभवादिह
कृशताऽभिमता देहे पीनता नतु शोफतः।

"अन्याय से प्राप्त धन की अपेक्षा निर्धनता श्रेष्ठ है। शरीर में दुबलापन भला है पर उसमें सूजन से आया हुआ मोटापन ठीक नहीं।"

यह बात हम पहले ही बता चुके हैं कि हमारे चरित्रनायक के परिवार की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। उस पर भी अकाल पड़ा। लोगों को खाने पीने के लाले पड़ रहे थे। ऐसे अवसर पर अपने ईमान को वही ठिकाने रख सकते हैं जो राम के प्यारे होते हैं। बात ऐसे ही कठिन समय की है। जरारे ग्राम के एक बोहरे थे। नाम था पहाड़सिंह। वे केवल रुपये-पैसे के ही धनी नहीं थे, श्रम के भी धनी थे पहाड़सिंह खेतों पर 'कटिया' लेने जाते। वहीं कटिया काटते, शाम को उसे लेकर घर पर लौटते। एक बार वे कटिया काटने लगे। उनके गले में सात मोहरों का स्वर्ण-मुद्राओं का कंठा कटिया काटते समय

कंठ में वार-वार उछलता और टकराता । उसकी यह हरकत उन्हें अच्छी न लगी । सोने का हुआ तो क्या ? उसे गले लगाने का यह मतलब तो था नहीं कि छाती पर उसका कोई पाद-प्रहार सहले ! बोहरे ने कंठे को गले से उतार कर आक के पेड़ पर रख दिया और कटिया काटते रहे जब अपने कार्य से निवृत्त हुए तो गले में कंठा पहनने की याद ही न रही । कटिया को खेस में बाँधा और घर चले आये जब गाय बैल कटिया खाने में लगे थे और स्वयं भोजन करने में, तभी भीतर से पूछ दिया—'गले में कंठा नहीं दिखाई देता ।'' पहाड़सिंह के गले का कौर गले में ही अटक गया । हाथ का हाथ में ही रह गया । वे उसी समय तत्काल उठकर खेत पर दौड़े हुए गये किन्तु कंठा गायब था । घर भर दुःखी हो गया । गांव में भी समाचार फैल गया कि बोहरे का कण्ठा खो गया ।

तीन दिन बाद रतना की माता विजयकुँवरि बोहरे पहाड़सिंह के घर पहुँची । आंचल में से मोहरों का कण्ठा निकाल कर बोहरे के हाथ पर रख दिया । बोहरा तो आश्चर्य और प्रसन्नता के समुद्र में फिसल पड़ा । वह निर्णय ही न कर सका कि वह क्या कहे तब तक माता ने स्वयं कहा—बोहरे जी, कण्ठा पहुँचाने में देर हो गयी, क्षमा कीजियेगा । आपका कण्ठा रतना को 'हार' (खेतों) में मिला था । वह जब गाय चराके लौट रहा था तो उसे आक के पेड़ पर कंठा चमक गया और उसे वह घर ले आया था । उसने कहा था कि यह कंठा शायद बोहरे का होगा । तुम जाके पूछ आना । बोहरे जी ! मेरे उस समय हाथ खाली नहीं थे रतना ने इसे घर के आले में रख दिया । मैं काम-धन्धे में भूल गयी, मुझे कंठे की याद न रही । आज जब रतना ने कण्ठा को वहीं धरे देखा तो उसने कहा कि अभी तक इसे क्यों नहीं पहुँचाया । यह कण्ठा बोहरे का ही है ।'' मैं सब काम छोड़ के कण्ठा देने चली आई, देर इसीलिये होगयी थी । घर का काम देखना है, अब मैं जाती हूँ ।'' ऐसा कहके माता विजयकुँवरि चली गयी । धन्य है माता का स्वर्गीय भोलापन, धन्य है उसके पुत्र की निर्लोभ-वृत्ति ।

न उन्हें कण्ठा का लोभ था, न इनाम का न वाहवाही का । वस्तुतः उनके मन में लोभ कहाँ ? वह तो स्वयं रत्न थे, उन्हें तो अपूर्व धन मिल गया था "पायो जी मैंने रामरतन धन पायो" चाहे दुर्भिक्ष पड़े, चाहे बिना खाये प्राण निकल जाये पर परायी मोहरें उनके लिये मिट्टी के ठीकरों से अधिक मूल्य नहीं रखती थीं ।

जन सम्पर्क से विरक्ति

वैसे तो रतनसिंह का स्वभाव बड़ा स्नेह-पूर्ण था, उनके ओठों पर मुसकान के फूल सदा बिखरते रहते । जिससे भी मिलते, बड़े प्रेम से मिलते, इसमें तनिक भी शिष्टाचार जैसी बनावट की कोई गुंजायश नहीं थी, फिर भी इनका हृदय सबसे घुलता-मिलता नहीं था, सब में रहते हुए भी सबसे अलग रहते थे । किसी के पास बैठना-उठना, गपशप लड़ाना तथा ग्राम के प्रपंचों में पड़ना इन्हें तनिक भी पसन्द न था, वे एकान्त - प्रिय थे । उनका मकान गांव से बाहर बिलकुल अलग था । उसी में माता और पुत्र दोनों रहते थे । उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं रहता था कि गाँव में कहाँ क्या हो रहा है । वैसे तो गाँव से अलग रहने में उनकी एकान्त-प्रियता ही प्रधान कारण थी, पर इसमें एक दैवी घटना ने भी सहायता पहुँचायी थी । भक्त वत्सल भगवान तो अपने भक्तों के लिये अन्दर ही अन्दर कृपा का ताना-बाना पूरते रहते हैं, कहीं वे कठोर होते हैं और कहीं कोमल । संवत् ७० की घटना है, तिघरा का बंध फूटा तो कई गांव बह गये । पुराना 'जरार' ग्राम भी बह गया । प्रकृति ने निर्दयतापूर्वक जन-धन का विनाश किया, उस दुख-भरी कहानी को बहुत समय तक लोग लोक-गीतों में गाते रहे। जरारे ग्राम के जो लोग बच गये उन्होंने वहां से हटकर जहाँ-तहाँ घर बना लिये, दो घर कहीं-एक घर कहीं । इस प्रकार जरारा गाँव इधर-उधर बिखर के बस गया, हमारे रतनसिंह ने भी अपना अलग घर बनाया । बाद में जहां तहाँ बिखरे लोगों

ने मिलकर एक नये जरारे ग्राम की नींव डाली । सब लोग वहीं बस गये । रतनसिंह से भी उनके परिवार वालों ने कहा कि तुम अकेले क्यों पड़े हो, यहीं आजाओ" पर रतनसिंह हंस कर बोले—अरे भैया वह जगह बड़ी अच्छी है 'एकान्तवासा, झगड़ा न झांसा ।' वास्तव में उनके लिये तो जब बन्धा की बाढ़ में गाँव बहा था तो मानों उसका मोह-छोह भी बह गया, गांव ही क्या, सारा संसार ही बह गया, इन्होंने तो उससे बचकर अलग घर बना लिया था । इनका अलग घर ग्राम से पृथक् रहने का ही नहीं, संसार से अलग रहने का—जन-समूह से विरक्त रहने का एक निराला प्रतीक था ।

कर से काम मन से राम

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते,
जनानुराग-प्रभवा हि सम्पदः ॥

अर्थ—इन्द्रियों को जीतने से नम्रता आती है, नम्रता से गुण बढ़ते हैं, गुणों के बढ़ने से जनता का प्रेम प्राप्त होता है और जनानुराग से सम्पत्ति उपलब्ध होती है ।"

माता अकेली थी, रतना की उमर अभी कच्ची थी । जीवन-निर्वाह बड़ी कठिनाई से हो पाता था। एक बार नूराबाद के देवीराम बोहरे ज़रारे गाँव गये । माता ने बोहरे से प्रार्थना की कि रतना को आप अपने किसी काम पर रख लें, बोहरे ने उन्हें रख लिया । चार रुपया महिना देते, रोटी कपड़ा देते । उस समय इनकी अवस्था लगभग पन्द्रह साल की थी, परन्तु उनका हृदय वृद्धों जैसा गंभीर था, स्वभाव बालकों जैसा सरल एवं भोला तथा योगियों जैसा निर्दोष था । शील गुण के अवतार थे । सेठ का काम करते समय यदि कोई इनसे गाली भी दे देता, बुरा-भला कह देता तो ये नतो उसे उत्तर देते और न उसकी शिकायत बोहरे से करते थे । दुबला-पतला इकहरा शरीर, स.८१ ३ रता, सफेद साफा, मुख पर दूध-सी उजली मुसकान—बस

यही उनका रूप और वेष था । इतनी अवस्था में ही इतनी सचाई, इतनी ईमानदारी देवीराम बोहरे ने अपने शुद्ध व्यावसायिक जीवन में सर्व प्रथम देखी अतः उस जैसा व्यावहारिक व्यक्ति भी रतना के असामान्य गुणों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा । दो वर्ष पश्चात् ही उसने इनके प्रति नौकर की भावना का परित्याग कर दिया । उन पर कार्य का कोई प्रतिबन्ध नहीं रक्खा । जो काम रतना के मनोनुकूल होता, उसे सौंपते पर रतना अपने काम के बड़े चौकस थे, तब इनका काम,राम से अलग कैसे करता ? वे गाड़ी हांकते तो पहले गाड़ी जोत कर उसकी प्रदक्षिणा करते, बैलों के पैर छूते, तब गाड़ी चलाते थे । अधिकतर नूराबाद से मुरेना या नूराबाद से लश्कर गाड़ी ले जाते थे । रास्ते में यदि कोई बूढ़ा-टेढ़ा पैदल जाते मिल जाता तो कहते,—'अरे बाबा कहां जा रहे हो, यदि वह अपना स्थान गाड़ी के रास्ते में ही कहीं बताता तो उसे गाड़ी में बिठा लेते थे ।

कभी ये खेत जोतते । एक बार की बात है, देवीराम बोहरे का खेत जोत रहे थे, उसमें झरबेरियां बहुत थीं, पैरों में कांटे चुभते थे, देवीराम ने इन्हें जूते पहना दिये दूसरे दिन इन्हें नंगे पैरों देखकर बोहरे ने पूछा—'जूता कहां गया ? रतना ने नीची निगाह करके कहा—'एक किसान के पास जूते नहीं थे वह दो घंटे को मांग ले गया । पर फिर वह लौट कर देने नहीं आया ।" "तो तुम क्या पहनोगे ? देवीराम के इस प्रश्न के उत्तर में कहा—'दद्दू मुझे जरूरत नहीं है, मेरे पैर तो बहुत मजबूत हो गये हैं' । ऐसी घटना कभी कपड़ों के बारे में, कभी जूता के सम्बन्ध में बराबर होती रहती थी । देवीराम बोहरा इनकी बस एक इसी आदत से परेशान होता था कि इनके पास कोई वस्तु टिकने नहीं पाती थी, कभी किसी को दे देते तो कभी किसी को । वह ऊपर से इन पर झुंझलाता पर अन्तर से इन पर श्रद्धा करता था । वही क्या, जितने लोग इनके संपर्क में आये सब इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे । यह स्वाभाविक ही था, जिनके मन में राम रमे हैं उनका

प्रकाश अनेक गुणों के रूप में बाहर फूटता है और लोग उस ओर पतंगों की तरह आकृष्ट होने लगते हैं।

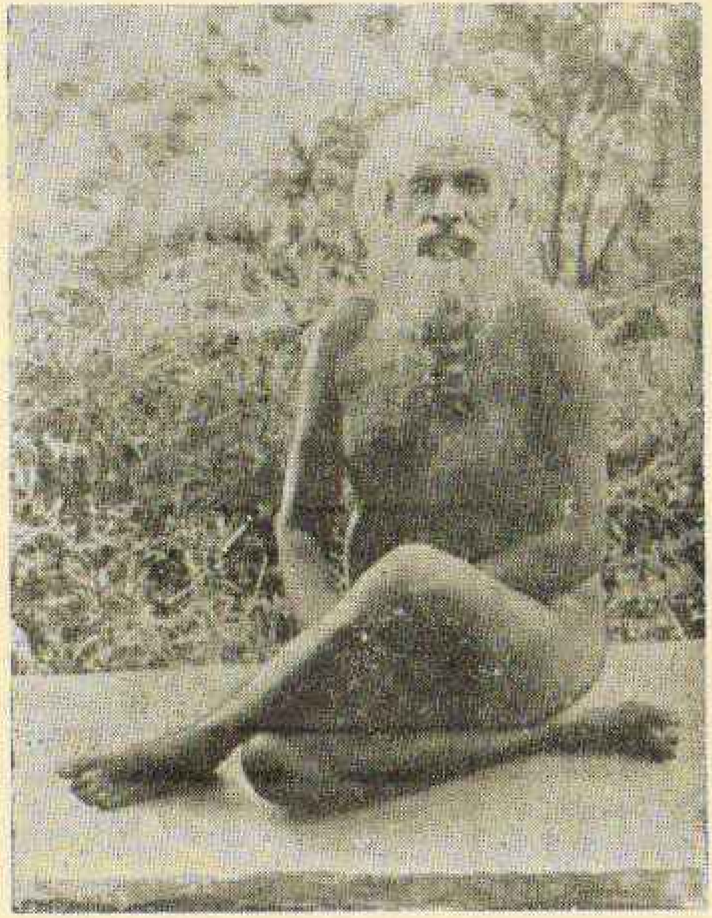
तपसी जी महाराज से भेंट

दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यी कूर्मी च पक्षिणी
शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जन-सङ्गतिः ।

अर्थ—मछली दर्शन से, कछुयी ध्यान से और पक्षिणी स्पर्श से अपने शिशु का पोषण करती है, इसी प्रकार सज्जनों की सङ्गति भी दर्शन, ध्यान और स्पर्शमात्र से ही लोक का मङ्गल करती है।"

नूराबाद के सीताराम-मन्दिर में एक तपसी बाबा महाराज रहते थे। यथा नाम तथा गुण, के अनुसार वे सच्चे अर्थों में तपस्वी थे। गोपालघाट गोकुल स्थान के परमसिद्ध अनन्त श्री श्री भगवानदास जी महाराज के शिष्य थे। पहले उन्होंने 'शनीचरा' पर्वत पर स्थित 'एती' ग्राम की ओर जाने वाले मार्ग के एक कुण्ड पर तीन वर्ष तक भगवद् भजन किया, एक बार उन्होंने भण्डारा किया, थोड़े से सामान में ही सहस्रों नर-नारी प्रसाद पा गये, फिर भी समाप्त न हुआ इनके इस चमत्कार से 'शनीचरा' स्थान के महन्त ईर्ष्यालु हो गये तो उस स्थान को छोड़ कर तपसी जी महाराज नूराबाद चले आये। वहाँ एक गुफा में रहने लगे, गुफा के द्वार पर कंडे जला देते और स्वयं गुफा के अन्दर बैठकर घनघोर धुआँ में तप करते रहते, इस प्रकार ४० वर्ष तक लगातार तपोनिरत रहे। सीताराम मन्दिर तथा नरसिंह मन्दिर का निर्माण कराया, 'हनुमान गढ़ी' की नीव डाली। उनका शरीर बड़ा विशाल एवं उनका रूप बड़ा भव्य था, वाणी मेघ-गम्भीर थी, जब वे मन्दिर में अकेले कीर्तन करते तो ऐसा प्रतीत होता था मानों कई लोग मिलकर बोल रहे हैं।

हमारे चरित नायक तपसी जी महाराज के पास रात्रि में जाते, किवाड़ों की आहट पाकर वे पूछते—कौन है?



श्री १०८ श्री तपसी जी महाराज, नूराबाद

"मैं हूँ रतना, महाराज जी"

"अरे रतना, रतन हो जायगा, रतन"

आशीर्वादात्मक ये वचन वे सदा कहते और रतनसिंह सिर झुका कर रह जाते। रात्रि में चरण दबाते। जब तपसीजी महाराज बहुत कहते तब शयन करने जाते थे। इनके भोलेपन पर तपसीजी महाराज अत्यन्त प्रसन्न थे। सन्तों की प्रसन्नता अमूल्य होती है। भगवान की कृपा का फल सन्त-दर्शन है, सन्त-दर्शनों का फल प्रभु की प्राप्ति है, परन्तु अनुराग की प्राप्ति, प्रभु-प्राप्ति से भी दुर्लभ है। उसके दुर्लभ अंकुर सन्तों की प्रसन्नता में उगते हैं। अतः भक्ति-पथ के पथिकों की प्रथम आराधना सन्तों की ही होती है—

प्रथम भगति सन्तन कर संगा।

अनुराग का उदय

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पाति-दर्शनात्,
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः।

—रघुवंश

अर्थ—सम्पाति के द्वारा सीता जी का समाचार पाकर श्री हनुमान जी ने समुद्र को वैसे ही पार किया जैसे ममताहीन पुरुष संसार को पार करता है।"

सूर्य धरती से करोड़ों कोस दूर रहता है परन्तु जैसे धरती का निर्मल जल, स्फटिक मणि तथा दर्पण इतने दूरवर्ती सूर्य को अपने पास खींच लेते हैं—उसकी तेजस्विनी मूर्ति को अपने हृदय में प्रतिबिम्बित कर लेते हैं वैसे ही निर्मल हृदय सन्त, योगियों के ध्यान से भी परे उस परमात्मा को अपने अन्तर में बसा लेते हैं। जिनका हृदय उस ईश्वरीय दिव्य छवि से छक जाता है उन सन्तों का संग भी संगी को छका देता है :—

दो० आप छके नयना छके, छके अधर मुसकाइ ।
छकी दृष्टि जा पर पड़े, रोम-रोम छकि जाइ ।

इसलिए सन्त-संग, भगवद् अनुराग का मूल है, सच्चे स्नेह का जन्मदाता है ।

रतनसिंह के ऊपर तो भगवान की कृपा आरम्भ से ही थी । इसलिये हम उन्हें जन्म-सिद्ध ही मानते हैं । कच्ची उमर में भी सच्चा रंग उन्हीं में देखा। अष्टाङ्ग योग की जिन कठिन साधनाओं के पश्चात् योगी जिस अवस्था का अनुभव करता है , उनमें उन अवस्थाओं का दर्शन, गायें, चराने और गाड़ी हाँकने में ही होने लगा। अनेक दिव्य गुणों ने अपना विकास करने का इन्हें आश्रय बना लिया। पर अनुराग की गंगा, राम के अगाध-रूप सिन्धु की ओर तब अधिक तीव्र गति से बढ़ती है जब उसमें अखण्ड झरने आ-आकर मिलने लगते हैं । प्रभु के प्रति उत्कट अनुरक्ति और संसार के प्रति तीव्र विरक्ति बढ़ जाती है । तपसी बाबा महाराज के सम्पर्क के कारण रतनसिंह का रामानुराग उद्बुद्ध हो गया ।

इसी समय नूराबाद में एक रामलीला करने वाली, सोहनलाल की मण्डली आई । पुराने लोगोंका कहना है कि इतने भाव पूर्ण ढंग से रामलीला करने वाली कोई मण्डली नहीं आई । नूराबाद में जटाधारी बाबा के मन्दिर के समीप लीला शुरू हुई । रतनसिंह दिन में देवीराम बोहरे का काम करते,रात में रामलीला देखते थे । रामलीला में सबसे अलग बैठते थे । करुणा के प्रसङ्गों में उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती थी । एक बार लीला में सेतवन्ध-रामेश्वर का प्रसङ्ग आया ।रामलीला वालों ने एक थाली को ठीक बीच में बिलकुल गोल-गोल काटा । उसे एक स्वरूप के गले मे पहना कर बालक को मञ्च पर इस प्रकार खड़ा किया कि स्वरूप का केवल गले से लेकर मुख-ही-मुख दिखाई देता था । शंकर जी की सुन्दर झाँकी बनाई थी ।

देखने वालों को ऐसा लगा मानों साक्षात् शिवजी प्रकट हो गये हैं श्रीरामचन्द्रजी ने उनका पूजन किया और वानर-सेना समुद्र पार हुई ।

हमारे चरित्रनायक इतने भाव-विभोर हुए कि वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़े, जब चेत हुआ तो पुकार उठे— 'हे रामजी महाराज ! मुझे भी सागर से पार करो, हा ! 'राम तुम कब मिलोगे' यह कहते-कहते विलखने लगे, उस दिन सारी रात उन्हें नींद न आई ।

मण्डली लीला करके चली गयी । उसके पश्चात् जहाँ कहीं रामलीला होती, पहुँच जाते, ६-६ कोस तक दर्शनार्थ जाते थे । इस प्रकार रामलीला के करुण प्रसङ्गों ने इनके स्नेह-स्रोत को जगादिया और वह चिरसंनिरुद्ध जल-स्रोत की तरह मार्ग पाकर आकुलता बनकर फूट पड़ा । रामलीला देखकर आते तो रात्रि में घंटों बैठे-बैठे आंसुओं के जल से प्रेम-बेलि को सींचा करते थे उनके स्नेहाकुल प्राण ऐसे बरसते थे जैसे ग्रीष्म का सन्ताप सावन की घन-घटा बनके बरसता है ।

अनुराग की वृद्धि

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्ति रनुक्रमिष्यति
—भाग० ३।२५।

अर्थ—भगवान् कहते हैं, सत्पुरुषों के संग से मेरी कथाएं हृदय और कानों के लिये रसायन बन जाती हैं, उनके सेवन से शीघ्र ही अपवर्ग-मार्ग के प्रति क्रम से श्रद्धा रति तथा भक्ति का आविर्भाव होता है ।"

रतनसिंह की अवस्था अब २० वर्ष की थी । तन में तारुण्य झाँकने लगा था । यौवन आता है तो साथ में उमंग, उत्साह, लगन एवं मादकता का मेला लिये आता है, रतना ने केवल एक बार आने वाले यौवन-अतिथि का सत्कार, एक अद्वितीय प्रेम-रस का प्याला पिला के किया ।

वे अब जहाँ कहीं सत्संग सुन पाते, अवश्य पहुँचते । उन दिनों सांक-स्टेशन पर एक स्टेशन मास्टर थे, बीकेन बाबू । नाम कुछ ऐसा

ही था, लोग उन्हें दाक्षिणात्य बताते हैं पर स्वभावतः वे सर्वदेशीय थे, सपत्नीक थे बड़े अलमस्त जीव थे वह। उस मस्ती में विजया का चस्का चार चाँद लगा देता था, फिर क्या कहना—'जहाँ भंग का रंग, वहाँ मित्रों का संग' तो जमने ही लगता है, अतः उनका गोष्ठी-प्रिय होना भी स्वाभाविक ही था, पर वे साधु-सन्तों के भी बड़े प्रेमी थे। मित्रों को तथा साधुओं को खिलाने-पिलाने में उदार हृदय एवं मुक्त-हस्त थे, आधी रात के समय भी कोई पहुँच जाय तो उनकी पत्नी उसी समय कढ़ाई चढ़ा देती थी। बीकेन बाबू का एक दैनिक नियम था, वह अपने कार्य से छुट्टी पाकर रात में दो घंटे रामायण की कथा कहते थे। कथा सुनने हमारे रतना भी पहुँचते थे कई बार इनसे भंग पीने का आग्रह किया गया, पर इन्होंने कभी नहीं पी। वस्तुतः इन्हें पीने की आवश्यकता ही क्या थी। इन्होंने तो एक ऐसा नशा पी रक्खा था जो कभी उतरना तो जानता ही नहीं था अपितु अधिक-अधिक चढ़ता ही रहता था—

'प्रतिक्षणं वर्धमानम्'

बीकेन बाबू रामायण का अर्थ तो सीधा-सादा करते थे किन्तु चौपाइयों की कहन उनकी बड़ी आकर्षक थी उस पर भी हृदय-स्पर्शी थी उनकी भावमयी मुद्रा। यों तो भगवान के चरित्र स्वतः मधुर होते हैं-इतने मधुर कि जितनी मधुरता से कोई कह नहीं सकता, फिर भी वक्ता की अपनी विशेषता होती है, भागवतकार का कथन है :—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात्
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ।

विषयाभिलाष से रहित महापुरुषों के द्वारा गाये गये, उत्तम कीर्त्ति भगवान के गुणानुवाद संसार की औषध होते हैं, कर्ण-प्रिय एवं हृदय-ग्राही होते हैं हिंसक पुरुष के सिवा और ऐसा कौन होगा जो उनसे विरक्त होगा ?"

बीकेन बाबू के सम्बन्ध में तो हम इतना ही कह सकते हैं कि वे भक्त थे, निर्लोभ थे। उनके द्वारा वर्णित रामकथा का हमारे चरित-नायक पर बहुत प्रभाव पड़ा।

भाव समाधि

एक दिन बीकेन बाबू सीता हरण का प्रसंग कह रहे थे। जगदम्बा श्री जानकी का हरण कर रावण आकाश मार्ग से ले जाने लगा, तीनों लोकों की स्वामिनी विलाप कर रहीं थी, पक्षिराज जटायु ने रावण को ललकारा पर वृद्ध गृध्रराज उससे अधिक न लड़ सका, वह उसके हाथों धराशायी हो गया, वैदेही वल्लभ प्रिया-विरह में-'पूछत चले लता तरु पाती'। इसे सुनते ही रतना विह्वल हो गये, मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। नेत्रों से अश्रु धारा बह चली, लोगों ने दौड़ कर उठाया, पंखा किया, मुख पर ठंडे जल के छींटे छोड़े, किन्तु उनकी भाव-समाधि भंग न हुई। घंटों यही दशा रही। बीकेन बाबू ने दो आदमी भेजे। वे श्री रतनसिंह को मूर्च्छित दशा में ही पीठ पर धर के जरारे गाँव ले गये। लगभग ४८ घंटे तक मूर्च्छित अवस्था में रहे। माता विजयकुँवरि विलाप करने लगी कि सहसा श्री रतनसिंह के नेत्र खुले कुछ खोये-खोये-से, कुछ ढूँढ़ते हुए से'। स्नेहाकुल एवं विरह-विह्वल हो ये करुण पुकार करने लगे 'हे रघुनाथ जी महाराज ! तुम कहाँ गये ? हे राम ! मुझे कहाँ छोड़ गये, मुझे भी ले चलो।" प्रभु के लिये उनका यह करुणा-क्रन्दन बड़ी देर तक चलता रहा। नेत्र लाल होगये, लम्बी-लम्बी सांसें ले रहे थे। कुछ लोग वहां समझदार भी थे। वे उन्हें धैर्य देने लगे—'अरे रतना ! भगवान कहीं चले थोड़े ही गये हैं ? वे फिर दर्शन देंगे, उन्हें खोजोगे तो पाओगे " यह बात जैसे उनके अन्तः को छू गयी-वे खोजने से मिलेंगे।' बात सच्ची थी।

दोहा—जिन खोजा तिन पाइयां निर्भय राम जरूर
आज नहीं तो कल सही चिन्ता को कर दूर।

तीर्थ यात्रा

संसार-मरु कान्तार-निस्तार करण क्षमौ
श्लाघ्यौ तावेव चरणौ यौ हरे स्तीर्थगामिनौ ।

—हरि भक्ति रसामृतसिन्धु

अर्थ—संसार रूपी मरुथल के वन प्रदेश से पार करने में समर्थ वे ही चरण प्रशंसनीय हैं जो प्रभु के तीर्थों में जाते हैं।"

श्रीरतनसिंह का मन अब घर में न लगा। वे चुपचाप चलपड़े तीर्थों की ओर। तीर्थ प्रभु के धाम जो ठहरे! वैसे तो नाम, रूप, लीला और धाम चारों ही नित्य हैं, दिव्य है तथा चारों ही भक्तों के जीवनाधार हैं। पर धाम के बिना राम के दर्शन कहाँ? धाम में ही तो रूप मिल सकता है और रूप की झलक मिलने पर ही तो उनके नाम में अनुराग तथा लीला में अधिकार प्राप्त होता है। वस्तुतः दीर्घ दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे तीर्थ स्थल एक अद्वितीय परमात्मा की एकता के दर्शन अनन्तकाल से करा रहे हैं। वैसे तो मनुष्य एक सीमित प्रदेश में, एक प्रकार की भाषा, एक प्रकार की वेष भूषा तथा एक प्रकार की जलवायु में रहते-रहते उसी को सत्य एवं उसी को अपनी ममता का केन्द्र मान लेता है। उसका संसार सीमित हो जाता है। उसके विचार और मान्यताएँ सीमित हो जाती हैं। तीर्थ इन संकीर्ण घेरों को तोड़ देते हैं। वहाँ विविध भाषाओं के बोलने वाले, विविध विचित्र वेषभूषा को धारण करने वाले अनेक जातियों के लोग, अनेक आचार विचार के लोग, अनेक प्रान्तों और स्थानों के लोग एकत्र होते हैं। इससे तीर्थों में विश्वरूप रघुवंशमणि का अच्छा-सा दर्शनीय नमूना उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार एक प्रदेश की एक ही नदी, एक ही तालाब एक ही प्रकार के वृक्ष, वनस्पति देखते-देखते, उस प्रदेश के प्रति, उस भूभाग के प्रति मनुष्यों के मनमें ममता का अटूट आग्रह बस जाता है। वह तीर्थों में ही घुलता है। वहाँ कहीं लहलहाते विस्तृत वन खंड, ऊँचे-

ऊँचे पर्वत, बहती हुई तीव्र गामिनी नदियाँ हैं, तो कहीं उज्वल हिमधारा है तो कहीं उष्ण जल के दहकते झरने! अनन्त आकाश के नीचे प्रकृति के इतने उन्मुक्त रूप देखने को मिलते हैं जिनसे कि हमारे सम्मुख विराट् पुरुष का रूप खड़ा हो जाता है। उस विराट् रूप के प्रति हमारे मन में ममता जगती है। मानवता के विविध रूपों के प्रति अपनेपन के भाव, हृदय की संकीर्णता को दूर कर देते हैं। वे अनेक तीर्थ एक प्रभु से सम्बन्ध रखते हैं। अनन्त जन-समूह एक प्रभु के भक्त होते हैं। अतः 'एकोऽहं बहुस्याम्' वेदवाक्य का मूर्तिमान् अर्थ तीर्थों में ही खुलता है। इसलिये हमने कहा है कि तीर्थ भगवान के धाम हैं। वहाँ प्रभु का रूप देखने को मिलता है। विशेषतः जो साधु-सन्त हैं या उस मार्ग पर चलना चाहते हैं उनके लिये तीर्थ उनके विश्वास की कसौटी होते हैं। उनकी सहनशीलता, कष्टसहिष्णुता के परीक्षक होते हैं। भला, राम रङ्ग में रँगे रतना उस मार्ग पर क्यों न बढ़ते? उन्होंने बदरीनाथ धाम की यात्रा की।

मार्ग में एक वैष्णव महात्मा मिले, उनके साथ बदरीनाथ धाम की ओर चलपड़े। उनके पास ६ रुपये थे जिन्हें उन महात्मा ने इनसे मांग लिया। मार्ग में उनके चरण दबाते, उनकी बड़ी सेवा करते थे और अन्त में सबसे रामनाम में प्रेम मांगते। मार्ग में किसी यात्री का हाथ पकड़ कर उसे कठिन मार्ग से पार करते, तो किसी थके यात्री की गठरी उठाकर उसे 'चट्टी' तक पहुँचाते। एक बुढ़िया मिली। उसके पैरों में छाले पड़ गये थे। पास में इतना पैसा न था कि किसी सवारी का प्रबन्ध कर सके, अतः वह दुःखी होकर लौटने लगी तो हमारे चरित्र नायक उसे समझाने लगे—'मैया तू इतनी दूर आगयी है। अब आधी दूर से क्यों लौटती है? ला, तेरा सब सामान मैं ले चलता हूँ, यह कहकर उसका सब सामान अपनी पीठ पर धरलिया और उसे हाथ से सहारा देते हुए लेगये। बूढ़ी मैया बड़ी गदगद हुई। प्यार से कहने लगी—'बेटा जीओ तुम्हारी बड़ी उम्र हो।" इन्होंने हाथ जोड़कर कहा— 'मैया मुझे तो तू राम नाम में

प्रेम बढ़ने का आशीर्वाद दे। उम्र बढ़ने का आशीर्वाद मत दे।" बूढ़ी मैया बड़े आश्चर्य से इनका मुख देखती रह गई! इस प्रकार हरिद्वार से लेकर बद्रीनाथ धाम तक रतनसिंह ने कहीं बीमारों की सेवा की कभी संत ब्राह्मणों के चरण दबाये, कभी असमर्थ लोगों को सहारा दिया तो कभी बूढ़े टेढ़े लोगों का सामान अपने सिर पर रखकर ढोया। पूज्य परम गुरुदेव ने इस यात्रा की चर्चा करते हुए एक बार कहा था।' भैया, तीर्थ यात्रा में मुझको तो सबसे बड़ा लाभ यही मिला कि दीन हीन असमर्थ रोगी जो भगवान के दर्शन करने जा रहे थे उनकी सेवा करने का अवसर मिल गया।

जब रतनसिंह बद्रीनाथ धाम पहुँचे तो इनके मन में श्री बद्री-नारायण भगवान के चरणों में कुछ द्रव्य समर्पित करने की कामना हुई। पर इनके पास था ही क्या? जो इनके पास ६) थे उनको एक साधुने लेलिया था। हाँ इनकी अँगुली में एक चाँदी का लपेटा (छल्ला) था। इन्होंने उसी को भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया। लक्ष्मी को भगवान की सेवा में सौंपकर जीवन भर के लिए विरक्त होगए। अब इनके पास एक भी पैसा नहीं था। पर भगवान तो विश्वंभर थे अपने भक्त की उपेक्षा क्यों करते? रतनसिंह बद्रीनारायण की यात्रा समाप्त कर लौट पड़े। हरिद्वार में आये, दोपहर हो गया था, भूँख बहुत लगी थी। किसी ने बता दिया तो काली कमली वाले बाबा के क्षेत्र में चले गए। वहाँ केवल हल्की २ दो रोटियाँ मिलतीथी। इन्हें भी मिली पर तृप्ति नहीं हुई तो दुबारा माँगने फिर पहुँचे। रोटी बाँटने वाले ने व्यङ्ग्य करते हुए कहा "साधु होकर दुबारा रोटी माँगते हो!" जब सबको दो २ रोटियाँ दी जा रही हैं तो तुम्हें अधिक कैसे देदें?" रतनसिंह के जी में बड़ी चोट लगी। इस चोट ने प्रभु की ओर बढ़ने के लिए एक सीढ़ी और बनादी। उन्होंने मन में दृढ़ संकल्प किया कि भविष्य में किसी से हम कोई वस्तु न माँगेंगे। इस संकल्प का उन्होंने आजीवन पूर्ण निर्वाह किया। श्री रतनसिंह तीर्थ यात्रा करके घर लौट आये। दुबारा माता को लेकर रामेश्वर धाम की

यात्रा की। यात्रा से लौटकर वे दिन भर रामनाम लेते रहते, कभी २ तो नाम लेते २ रो पड़ते थे। माता इनकी दशा से बहुत चिन्तित थी पर रतनसिंह अधिक निश्चिन्त होकर एकान्त-प्रिय होने लगे।

टेकरी पर

भोगो रोगो विषं वेश्म सर्प-बंधाश्च बान्धवाः
दग्धारण्यं जगत्सर्वं वियोगाविष्टचेतसाम्।
—क्षेमेन्द्र

अर्थ—'प्रभु-वियोगियों के लिए भोग रोग लगते हैं। वेश्म (भवन) विष और बान्धव सर्प-बंधन जैसे लगते हैं तथा सारा विश्व जलते हुए अरण्य के तुल्य हो जाता है।'

संसार में प्रति दिन अनंत घटनाऐं, अनंत बातें होती हैं पर उनसे शिक्षा ग्रहण करने वाला, एक निश्चित परिणाम पर पहुँचने वाला दुनियाँ में कोई विरला ही होता है। अन्य सब तो उस निर्लज्ज बालक की तरह है जिसे विद्यालय में अध्यापक प्रति दिन ताड़ना देता है पर वह अपना पाठ याद नहीं करता। या कई बार ठोकर लग जाने पर भी सँभल कर नहीं चलता है। इसके लिए कुछ ईश्वरीय आदर्श उपस्थित होते हैं जिनको देखकर दूसरे प्रेरणा लेते हैं। हमारे पूज्य नायक भी विरले ईश्वरीय आदर्श थे। सम्वत १९७५ की घटना है। बंधा टूटने के पश्चात् वे ग्राम से अलग मकान में तो रहते ही थे पर इनका जी और भी एकान्त चाहता था। संयोग की बात थी। आषाढ़ का महीना लगा। गगन के मैदान में बादलों के दल जहाँ तहाँ डेरा डालने लगे थे। उसी समय एक बहेलियों का दल घूमता-फिरता आया और वह रतनसिंह के मकान के पास ही डेरा डालकर रहने लगा।

उस दल के लोग कस्तूरी-शिलाजीत आदि वन्य वस्तुऐं बेचते और आस पास पक्षियों को मारते थे। अपने ही मकान के पास ऐसे

लोगों को देखकर रतनसिंह को बड़ा दुख हुआ। वे मन ही मन अपने भगवान से प्रार्थना करने लगे-"हे प्रभो ! यह आप कौनसी लीला कर रहे हैं।" सहसा इनके मन में प्रभु की प्रेरणा हुई। वे सोचने लगे कि वास्तव में काल रूपी पारधी का दल प्रत्येक घर के पास अपना डेरा डाले हुए है। जिन-जिन का समय आता जाता है उन्हें वो मार देता है। जो घर के बंधन तोड़कर भगवान की शरण में चला जायगा वही बच जायगा। यह सोचकर घर से चुपचाप निकल गये। माता विजयकुँवरि ने देखा कि 'रतना' घर नहीं है तो सोचा कि ग्राम गया होगा। साँझ हुई। रात आई। सब लोग अपने-अपने घर लौटे, पर माँ का दुलारा रतन नहीं लौटा। वह सोचने लगी "कथा वार्ता सुनता होगा, सवेरे तक आ ही जायगा।" प्रातःकाल हुआ रतनसिंह नहीं आये। माता दौड़ी हुई नूराबाद गई। देवीराम बोहरे को सूचना दी। यह तो हम बता ही चुके हैं कि वे अब देवीराम के यहां नौकरी नहीं करते थे और करते भी क्यों—

हम चाकर रघुनाथ के पटौ लिख्यौ दरबार।
तुलसी अब का होंइगे नर के मनसुबदार॥

देवीराम बेचारे माँ के आग्रह पर अपनी घोड़ी पर बैठकर कई जगह खोजने गए पर 'रतन' न मिले। सहसा कुछ चरवाहों ने सूचना दी कि रतनसिंह बिलकुल समीप की पहाड़िया पर हैं और बिलकुल साधु बने बैठे हैं। गण्य मान्य लोग टेकरी पर गए (पहाड़िया को ही लोग टेकरी के नाम से पुकारते हैं)। वहाँ जाकर सबने कहा कि घर छोड़कर क्यों चले आये ? वहाँ भी तो तुम अकेले थे भगवान का भजन वहां भी कर सकते हैं ? रतना बोले—वहाँ तो पारधियों का दल डेरा डाले रहता है।' 'लोगों ने कहा पारधियों के दल को हटा दिया जायगा। रतना बाबा ने कहा —"अरे भैया, बरसात के दिन हैं हम कष्ट उठा लेंगे पर अपने आराम के लिए किसी का घर बिगाड़ने को कैसे कहें ? यह ठीक नहीं। अब हम यहीं रहेंगे।" लोगों ने बहुत कहा।

माता भी बहुत रोई-गाई; परन्तु वे घर नहीं लौटे, लौटाने वाले स्वयं लौट आये।

पहाड़ी बहुत ऊँची नहीं है। न हरी भरी है। वृक्ष के नाम पर पूरी पहाड़ी पर एक पीलू का पेड़ है। उसे पेड़ कहना भी व्यर्थ है। वह एक प्रकार का भूँकटा है। मेंहदी के पेड़ की तरह उसकी बढ़वार होती है। पीलू की बगल में ही टूटा-फूटा हनुमान जी का मन्दिर था। वे बड़े सिद्ध हनुमान माने जाते हैं। हमारे रतनसिंह जी पीलू के नीचे एक पत्थर के टुकड़े पर जा बैठे थे। लोग अब उन्हें 'रतना' कहने में संकोच करते थे। अतः रतना के साथ बाबा पद का प्रयोग करने लगे थे। रतना बाबा उसी पेड़ के नीचे एक पत्थर पर बैठा करते। बरसात के दिनों में सारी-सारी रात, सारे-सारे दिन भींगा करते थे। पत्थर पर बैठे रहने से चमड़ी कड़ी हो गई थी। किसी से कुछ माँगते न थे। माता आकर उनको भोजन दे जातीं। ग्राम के लोगों ने टेकरी पर एक झोंपड़ी डालदी। पूज्य बाबा महाराज टेकरी पर ११ महीने तक रहे। सम्वत १९७५ में भयानक महामारी पड़ी थी। उन दिनों वे टेकरी पर ही थे। चारों ओर जलती चिताओं को देखकर इनका करुणापूर्ण हृदय दुःख से भर गया। इन्हें लगा कि सारा संसार जल रहा है। इनका मन उस समय अपने प्रभु से मिलने के लिए अकुला उठा। वे दिनभर रोते, रात भर रोते। आँखें सूज गई थी। बार-बार कहते "हे रघुनाथ जी महाराज, तुम कहाँ हो ?" आखिर एक रात को इनकी विरह-वेदना अधिक बढ़ गई। वे बड़े जोर से रोने लगे और कहनेलगे-" "हे प्रभो! मुझ पर दया करो। हे राम तुम्हारे बिना मेरा रोम-रोम जला जा रहा है, मेरे नाथ ! मुझे चरणों में शरण दो।" हृदय इतना व्याकुल हुआ, प्रभु से मिलन की इतनी चटपटी लगी कि झोंपड़ी में आग लगाली और आंख बन्द करके झोंपड़ी के अन्दर बैठ गए ! विरहियों के लिए मृत्यु तो उत्सव होती है—

दो०—जा मरिबे सों जग डरै सो मेरे आनंद।
कब मरिहों कब पाइहों पूरन परमानंद॥

महाराज जी भी इसी लगन के विरही थे। झोंपड़े में आग लग गई। फूँस का सूखा झोंपड़ा था। आग फैलते कितनी देर लगती। आग की लपटों ने सारे झोंपड़े को लपेट लिया। दूर तक धुआं और उठी हुई लपटें लोगों ने देखी। बाबा महाराज को विश्वास हो गया कि प्रभु से मिलने में अब देर नहीं है। पर न जाने क्या हुआ अचानक किसी ने बाँह पकड़ के बाहर खींच लिया और कहा। "धैर्य रक्खो, करह पर चले जाओ।" सारा झोंपड़ा जल गया—"आई मौज फकीर की दिया झोंपड़ा फूँक।" महाराज जी का एक रोम तक नहीं जला। जलता भी कैसे ?

चौ०—ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा,
जरा न सो तिहि कारन गिरिजा ॥

और यह इसलिए था कि वे प्रहलाद की तरह राम नाम के अनन्य जापक थे। अग्नि में बैठे प्रहलाद ने अपने पिता से स्पष्ट कहा था—

रामनामजपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।

अर्थ—समस्त तापों को शान्त करने के लिये एकमात्र भेषज, राम नाम का जप करने वालों को भय कहाँ ? देखिये पिताजी, मेरे शरीर में यह अग्नि भी जल की तरह शीतल लग रही है।"

शरणापन्न

तद्वः सारस्वतं चक्षुः समुन्मीलतु सर्वदा
यत्र सिद्धाञ्जनायन्ते गुरुपादाब्जरेणवः ।

अर्थ—आपके भाल में ज्ञान का वह नेत्र खुले, जिसमें गुरुचरणों की रेणु सिद्धाञ्जन का कार्य करती है।

मानवेतर प्राणियों की योग्यता नियत होती है। उन्हें अपने लिये किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ तैरने की कला को ले लीजिये। कोई भी मनुष्य बिना सिखाये तैर नहीं सकता।

किन्तु पशु के लिये यह नियम सर्वथा व्यर्थ है। वह बिना शिक्षा के खूब तैर सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य को अपने विकास के लिये पथ प्रदर्शन की नितान्त आवश्यकता है। जब लौकिक ज्ञान की यह बात है तो पारलौकिक ज्ञान का कहना ही क्या है ! 'दादू' कहते हैं :—

दो०—इक लख चन्दा आनि घर सूरज कोटि मिलाइ
'दादू' गुरु गोविन्द बिन उर कौ तिमिर न जाइ ।

जिस ज्ञान को पाकर और कुछ जानने की कामना नहीं रह जाती, वैसा बोध कोई विरला गुरु ही दे सकता है। कबीर कहते हैं :—

दो०—साधू सीप समुद्र हैं, सत गुरु स्वाती बुन्द,
तृषा गई एक बुन्द सों क्या ले करूँ समुन्द।

पूज्य रत्नसिंह के चित्त में राम-मिलन की लालसा दिन रात बढ़ने लगी। उनका जी छटपटाने लगा कि प्रभु कैसे मिलें और कब मिलें ? पर जो गुरु, गोविन्द से मिल चुके हैं वही मिलन की राह बता सकते हैं। नूराबाद वाले पूज्य तपसी जी महाराज इसी कोटि के सन्त थे। वैसे उनका नाम श्री सीतारामदास जी था। गोकुल के प्रसिद्ध स्थान 'गोपालघाट' के महन्त परमहंसवर्य अनन्त श्री विभूषित श्री भगवानदास जी महाराज के शिष्य थे। जिन्होंने इस युग में तीन सौ वर्ष की आश्चर्यजनक आयु प्राप्त की थी। उन्हीं के अलौकिक शिष्य थे श्री तपसी बाबा। इन्होंने भी ११७ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की थी। मृत्यु के पूर्व ही अपने शिष्य एवं अनुयायियों को सूचित कर दिया था कि हम अमुक समय अमुक स्थान पर शरीर छोड़ेंगे।

संवत् १९७९ में इसी उद्देश्य से समस्त शिष्य मण्डली को लेकर श्री अयोध्या जी गये। मन्दिरों में दर्शन कर श्री सरयू के तट पर पहुँचे। अगहन बदी एकादशी का दिन था। प्रातःकाल की जब आरती हो गयी तो भगवान का चरणामृत लिया। सरयू का जलपान किया और आसन लगा के बैठ गये। चारों ओर से शिष्यों ने राम नाम की ध्वनि की। पूज्य श्री तपसी जी महाराज ने समाधिस्थ होकर अपने

पाञ्चभौतिक कलेवर का परित्याग कर दिया और प्रभु के दिव्यधाम को पधार गये।

हमारे पूज्य चरितनायक ने इन्हीं को अपना गुरु बनाया। संवत् १९७६ में उन्होंने राम मन्त्र के साथ नरसिंह मंत्र की दीक्षा दी और आज्ञा दी कि जाकर 'करह' के स्थान पर रहो। तब से इनका नाम 'रामरतनदास' हो गया। 'करह'-कान्तार था तो सिद्धों का स्थल, पर था बड़ा भयानक। वहाँ दिन में भी सिंह, गाय भैंसों की तरह घूमा करते थे। पूज्य तपसी जी महाराज ने इन्हें समझाया कि देखो रामरतनदास, वहाँ भजन करो, एक टूटा-फूटा तिवारा है, रात के समय डर लगे तो उस पर चढ़ जाया करना'। पूज्य महाराज जी ने समर्थ गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। वे तो जन्म से ही निर्भय थे फिर गुरु का अभय हस्त पाकर क्यों डरने लगे? इनके सामने भक्त शिरोमणि प्रह्लाद का आदर्श था, जिन्होंने उन नरसिंह भगवान को अपना आराध्य बनाया था जिनके समीप जाने में साक्षात् लक्ष्मी भी भयभीत हो गयी थीं तब उनके सच्चे अनुयायी श्री रामरतनदास जी महाराज को वन में किस से भय?

करह की झाड़ी में

प्रतिष्ठा सूकरी-विष्ठा गौरवं घोर रौरवम्
अभिमान सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।

अर्थ—प्रतिष्ठा सूकर की विष्ठा जैसी घृणास्पद है, गौरव घोर रौरव नरक के तुल्य है, अभिमान सुरापान की तरह बेसुध बनाने वाला है, अतः तीनों को त्यागकर हरि का भजन करना चाहिए।"

अपने शास्त्रों में देश-काल के उचित ज्ञान को बहुत ही महत्व दिया गया है। उचित स्थान तथा उचित काल में किया गया कार्य अवश्य ही अभीष्टप्रद होता है। वैसे तो "सबै भूमि गोपाल की है उसमें अटक क्या है फिर भी कुछ स्थान ऐसे निष्प्रपञ्च होते हैं जहां भगवान

की मधुर स्मृति आये बिना नहीं रहती। ऐसे स्थान मानव निर्मित नहीं होते; प्राकृतिक होते हैं। मनुष्य निर्मित स्थान कितना ही एकांत हो—कितना ही भव्य हो, पर उसके साथ निर्माता की स्मृति विजड़ित रहती है, उसकी भावनाएं अनुस्यूत होती हैं। वे स्मृति और भावनाएं साधक के अन्तःकरण को अवश्य ही प्रभावित करती हैं; परन्तु प्रकृति-प्रदत्त स्थल इस दोषसे निर्मुक्त होते हैं, प्रकृति की रचना प्रभु की प्रेरणा से होती है अतः प्राकृतिक स्थल ईश्वर निर्मित हैं जिन्हें देखकर साधक के हृदय में उस प्रभु का स्मरण जाग उठता है, जो विश्व-प्रपञ्च का संचालक है, जो प्रकृतिका पुरोहित है और जो एक-एक पत्ते को, एक-एक फूल को अपनी कलामय अंगुलियों से ऐसा रूप प्रदान करता है जिसे देखकर आश्चर्य से चकित एवं कृतज्ञता से नत हो जाना पड़ता है। इसीलिये 'रामचरित मानस' में नारद जी की तपस्या का उल्लेख करते हुए कहा है:—

निरखि सैल सर विपिन विभागा
भयेउ रमापति पद अनुरागा।

'करह' की झाड़ी भी एक ऐसा ही अद्भुत स्थान है। यह स्थान नूराबाद से पश्चिम की ओर तीन मील जङ्गल में है। दूर-दूर तक सघन वन श्रेणी एवं छोटी-छोटी पर्वत मालाएं चली गई हैं। यह विन्ध्य पर्वत का ही एक भाग है। करह के आस-पास दो-दो मील तक गाँव नहीं हैं। बीच में बारहों महीने बहने वाली छोटी-सी साँक नदी पड़ती है। स्थान पहड़िया की हरी-भरी गोद में है। मुख्य आश्रम बरगद और नीम की सघन छाया से शीतल रहता है। दो-एक झरने भी हैं, वह प्राकृतिक स्थल होने के कारण ही आकर्षक एवं आदरणीय नहीं है, वह सिद्धस्थल है, तपोभूमि है, वहाँ बड़े-बड़े सिद्ध हो गये हैं। उनकी अगाध साधना की वह साक्षी देता है, ईश्वर के साक्षात्कार करने की वह प्रयोगशाला है।

उस स्थान का तीन अक्षरों वाला 'करह' नाम वहाँ होने वाले तीन सिद्धों की पवित्र कथा का प्रतीक है। मुख्यतः करह वाले बाबा

महाराज के पूर्व जिन सिद्ध महापुरुषों ने वहां रहकर सेवा का जो अद्भुत सत्र खोला था उसका इतिहास इस 'करह' शब्द में समाया हुआ है। वह उसका स्मारक बन गया है। कहते हैं—धनेले के मन्दिर पर एक महात्मा थे चेतनदास। वे बड़े सिद्ध पुरुष माने जाते थे। उनके कई शिष्य थे, जिनमें एक ब्राह्मण का बालक था—रामदास। पर वे उसे 'रमुआ' कहके पुकारते थे। वे गाड़ी हाँकते—और भी काम-काज करते थे परन्तु गुप्त रूप से साधना में संलग्न रहते। बड़े साहसी साधक थे। वैसे वे बड़े भोले - इतने भोले कि ये गुरुजी के अन्य शिष्यों के साथ जब जाड़े में आग पर तापने बैठते तो दूसरे शिष्य एवं अन्य विनोदी लोग इन्हें गुदगुदा के उठा देते थे। तापने नहीं देते थे। तब रमुआ कहते—'अरे भाई रामजी की इच्छा से हमें भी ताप लेने दो" इस पर दूसरे लोग मजाक करते हुए कहते—'कहीं से बड़ा सिद्ध आया है कि इसे भी तापने दो।' जाड़ा लगा है तो अलग क्यों नहीं जला लेता! लोगों ने बात तो हँसी में कही थी पर वह सच थी। रमुआ सिद्ध पुरुष ही था। उसने नम्रतापूर्वक कहा—'अच्छा भाई थोड़ी आग तो लेने दो, यों कहके गजी का खेस (खद्दर की मोटी चद्दर) बिछा दिया और हाथों से आग भरकर खेस पर उड़ेल ली। अलग खींचकर खेस पर ही आग जलाई तथा खेस के एक छोर पर बैठकर तापने लगे! आग भरने में न हाथ जले न खेस का एक धागा तक जला। गुरु चेतनदास जी ने कहा—'अरे रमुआ, तू तो सिद्ध हो गया। अब तू यहाँ से दूसरी जगह चला जा। यहाँ मत रह, क्योंकि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती। गुरु की आज्ञानुसार बाबा रामदास उसी झाड़ी में आ बैठे जिसका बाद में 'करह' नाम पड़ा। वहीं उन्होंने साधना की। सर्वप्रथम इन्हीं ने वहां एक मन्दिर बनवाया जिसमें श्रीराम जानकी जी की मूर्तियां स्थापित की।

उन्हीं के हाथ का लगाया हुआ बरगद का विशाल वृक्ष आज भी उनकी स्मृति को हरी-भरी एवं सघन बनाए हुए है। सिद्ध रामदास जी के एक शिष्य थे जानकीदास। पर उनमें वह चमत्कार न था। उनके पश्चात् चोर डाकुओं के डर से वे श्रीराम जानकी जी की मूर्तियों को लेकर करह से 'धनेले' चले गये। धनेले गाँव में आज भी वही श्रीराम जानकी जी की प्रतिमाएं विद्यमान हैं। उस मन्दिर से ग्वालियर रियासत की ओर से कुछ सालाना द्रव्य बाँध दिया था वह आज तक चला आता है।

सिद्ध रामदास जी ने बहुत सी गायें पाली थीं। खूब दूध होता था। एक कड़ाह चढ़ा रहता उसमें दिन भर दूध औटता था। जो कोई साधु-ब्राह्मण या कोई भी भूखा-प्यासा आता उसे उसी कड़ाह से दूध निकाल कर पिला देते थे। सारे दिन यही क्रम चलता था। आस-पास उनके दूध का कड़ाह इतना प्रसिद्ध हुआ कि लोग बाबा के आश्रम को ही 'कड़ाह' कह के पुकारने लगे। धीरे-धीरे वही 'कड़ाह' 'करह' बनकर आज तक पुकारा जाता है। इस प्रकार 'करह' नाम के साथ सिद्ध महात्मा की प्राणि-सेवा का अपूर्व इतिहास जुड़ा हुआ चला आता है। सिद्ध रामदास जी को वह सिद्धि भी उनसे पूर्व एक अन्य सिद्ध से प्राप्त हुई थी। वे सिद्ध भी करह की झाड़ी में ही रहते थे। उन्होंने रामदास जी की बड़ी कठिन परीक्षा ली तब वहां रहने दिया। कहते हैं एक बार रात में ये सो रहे थे कि सहसा पैरों की तरफ आग जल उठी और किसी ने इनका एक पैर घसीट कर उस जलती आग में रख दिया पर ये किसी कच्चे गुरु के शिष्य तो थे नहीं इन्होंने अपना दूसरा पैर भी आग में रख दिया! इनकी इस दृढ़ता और कष्टसहिष्णुता को देखकर सिद्ध बाबा इन पर प्रसन्न होगये और बाबा रामदास जी को भी सच्चा सिद्ध बना दिया।

सिद्ध रामदास जी के समकालीन एक अन्य सिद्ध सन्त थे—बाबा सीताराम जी। वे 'धुरैया बसई' के गुर्जर नरेश राजा रामपाल के वंशज थे। उनका रामदास जी महाराज से बड़ा स्नेह था। वे बराबर करह आया करते थे। उनके विषय में भी चमत्कार की अनेक कथाएं सुनी जाती हैं। धुरैया बसई गांव में उनका बैठका बना हुआ है।

आज भी लोग वहां नत मस्तक होते हैं—पूजा करते हैं। इससे उनकी विघ्न बाधाएं दूर होती है। करह पर सरयू कुण्ड के पास बनी हुई तीन छत्रियों में से बीच वाली छत्री उन्ही की स्मृति में बनी हुई है। इन सिद्ध पुरुषों ने लगभग संवत् १८८५—९० में इस स्थान को अपनी साधना से चैतन्य बनाया था उनके पश्चात् करह का स्थान बहुत वर्षों तक सूना पड़ा रहा। इस बीच स्थान का रूप बड़ा भयावह हो गया था। मन्दिर जीर्ण होकर टूट-फूट-सा-गया। सब जगह झाड़ झंखाड़ खड़े थे। चारों ओर सर्पों की बामियां ही बामियां दिखाई देती थी। बड़े-बड़े सर्प और बिच्छू दिन में ही निर्भय विचरा करते थे। सिहों के रहने का स्थान होगया था। वहां लोग दिन में जाते डरते थे रात में रहने की तो चर्चा ही क्या! हमारे भावी सिद्ध पूज्य रामरतनदासजी महाराज ने उसी झाड़ी में अपनी साधना की ज्योति जगाई। वे सांझ के समय उसी स्थान पर पहुँचे, उसी टूटे हुए मन्दिर के एक कोने में अपना आसन जमाया, मानों सर्प बिच्छू, गोह, कांतर, सिह, बाघ जैसे जहरीले विस्फोटक पदार्थों में 'ईश्वर सर्व भूत में अहई' इस सिद्धान्त का आचरण में परीक्षण करने के लिये उसी स्थान को दैवी प्रयोग-शाला का रूप देने की ठान ली।

दूसरे दिन 'खैरवाहे' गांव का दुल्लो भगत पास की खान में काम कर रहा था। वह पानी लेने के लिये करह के झरने पर आया। आज जहां सरयू कुंड है वहां पहले झरना का रूप था। हाथ से लोटा-बाल्टी डूबोकर पानी भर लिया जाता था। उसने पानी भरा कि सहसा उसे मनुष्य की आवाज सुनाई पड़ी। कुतूहलवश वह उधर बढ़ा तो उसने देखा कि एक नौजवान साधू बना बैठा है। दुल्ली ने इन्हें पहचान लिया, उसने कहा—बाबा तो बन गये हो, पर यहां ठहरना बड़ी टेढ़ी खीर है। यहां सिद्ध बाबा बड़ी-कड़ी परीक्षा लेते हैं। कम से कम तीन दिन तक तो रोटी से भेंट होने ही नहीं देते। खैर कोई बात नहीं, आज तो मैं शाम को आटा दाल गाँव से भिजवा दूंगा, यह कहके दुल्ली भगत चला गया। शाम को खान के काम से छुट्टी पाकर वह

जब घर पहुँचा तो बाबा को आटा दाल भिजवाना भूल गया। राम-रतनदास जी दिन भर भूखे ही रह गये। दूसरे दिन दुल्ली पानी भरने फिर करह पर पहुँचा तो उसे याद आई कि आटा दाल नहीं भिजवाया। बड़ा पश्चात्ताप हुआ। और कह गया कि आज अवश्य भिजवा दूंगा। घर जाकर वह फिर भूल गया। इस प्रकार बाबा जी का दूसरे दिन भी उपवास ही होगया। तीसरे दिन जब दुल्ली पानी भरने करह पर पहुँचा तो उसे फिर याद आई कि आटा दाल नहीं भिजवाया। उसे असीम आश्चर्य हुआ कि इसके पहले तीन दिन से याद नहीं रहती, यह क्या बात है! उसे बेहद दुःख हुआ कि मेरे कारण एक साधु तीन दिनों से भूखा बैठा है। पता नहीं, इस अपराध का सिद्ध बाबा मुझे कौन सा दण्ड देंगे! बाबा जी महाराज ने हँसकर कहा—दुल्ली भगत! यह तो सिद्ध बाबा की लीला है-तुम्हीं ने तो कहा था कि सिद्ध बाबा तीन दिन तक रोटी नहीं देते। बेचारा दुल्ली जान गया। उसने पानी का घड़ा वहीं रक्खा और सीधे गांव जाकर दाल आटा लाया और बाबा महाराज को दिया। तब उन्होंने प्रसाद बनाया। परन्तु यह व्यवस्था केवल दो एक दिन चली। प्रति दिन उस भयानक जङ्गल में कौन दाल आटा देने जाता और कौन अपने प्राण सङ्कट में डालता? और तब पूज्य महाराज जी को कई उपवास करने पड़े—फिर भी उदर के लिये वे किसी से याचना करने न गये न किसी से चर्चा की। पर यह शरीर तो पाञ्चभौतिक है उसकी क्षीणता तो भौतिक पदार्थों से ही रोकी जा सकती है यदि उसे अशक्त होने से नहीं बचाया जायगा तो साधना नहीं बन सकती। 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्' अथवा 'तन बिन वेद भजन नहि बरना'। कबीर साहब ने भी कहा है—

कबिरा क्षुधा है कूकरी करत भजन में भङ्ग
जा को टुकड़ा डालके सुमिरन करो निसङ्ग

अतः पूज्य महाराज जी ने क्षुधा कूकरी को शान्त करने के लिये धूनो की भस्म घोल-छान कर पीली। कुछ दिनों 'धव, नामक वृक्ष की

नीरस पत्तियाँ पीस कर पीं और कुछ दिनों तक नीम की पत्तियों को पीस पीस कर पीते रहे। इससे शरीर में गरमी व्याप्त गई। वही गरमी बाद में चर्म रोग बनकर उभरी थी।

इस प्रकार पूज्य महाराज जी के धैर्य की परीक्षा हो रही थी। पर वे इन कठिनाइयों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने तो संकल्प करलिया था कि चाहे शरीर भले ही छूट जाय किन्तु इस शरीर के लिये हम किसी से मांगेंगे नहीं।" वस्तुतः धीर पुरुषों का ऐसा स्वभाव ही होता है :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्येव मे मरण मस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

अर्थ—नीति निपुण लोग चाहे निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी रहे या जाय, मृत्यु चाहे आज ही हो जाय अथवा युगों के बाद परन्तु धैर्यशाली पुरुष न्याय पूर्ण मार्ग से एक पग भी इधर उधर विचलित नहीं होते।

ऐसे मनस्वियों की आन-बान भगवान रखते हैं, उनकी टेक पूरी करते हैं। पूज्य बाबा महाराज जब अपने संकल्प से न डिगे तो उन पर कृपा थी। धनेले गाँव के पास एक मारवाड़ी का पुरा है। वहीं के सोनेराम भक्त को स्वप्न हुआ कि करह पर महात्मा भूखा बैठा है उसके लिये भोजन बना के ले जाओ। यह सेवा तुम प्रतिदिन किया करो। मारवाड़ी के पुरा का भक्त दूसरे दिन दूध रोटी लेकर महाराज जी के पास करह पर पहुँचा। उन दिनों पूज्य बाबा महाराज आटा दाल ही लेते थे। अपने हाथ से भोजन बनाते थे। जब इस भक्त ने स्वप्न में हुई सिद्ध बाबा महाराज की आज्ञा सुनाई तो महाराज जी ने उसके यहाँ का बना भोजन स्वीकार कर लिया। तभी से उन्होंने परमहंस वृत्ति स्वीकार की। वास्तव में जिन्हें प्रत्येक मनुष्य में—चाहे वह जिस जाति का हो, जिस वर्ण का हो और चाहे जिस धर्म को

मानने वाला हो—ईश्वर के दर्शन करने हैं—राम की लीला देखनी है, और जिन्हें प्रत्येक जीव जन्तु में अपने ही आराध्य की विचित्र झांकी करनी है उन्हें लोक की संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठना ही पड़ेगा अन्यथा वे अपने सिद्धान्त के प्रति ईमानदार नहीं रह सकते, बल्कि यह एक हास्यास्पद स्थिति होगी कि जो सबको राम का रूप माने वह जातिभेद, धर्मभेद अथवा वृत्तिभेद के कारण किसी को अस्पृश्य माने, किसी को बड़ा माने किसी को छोटा माने। पूज्य महाराज तो इस झमेले से दूर थे। कबीर ने कहा है—

निर्मल हुआ तो क्या हुआ निर्मल मांगे ठौर।
मल-निर्मल से दूर हैं वे साधू कोउ और॥

अब प्रतिदिन उसी भक्त के यहाँ से भोजन आने लगा। पत्थर का एक कुण्डा था। महाराज जी की थाली, कटोरी वही थी। उसी में मिलाकर प्रसाद पाते थे। सोनेराम की यह सेवा बिना नागा चल रही थी। उस भक्त के यहाँ दो सौ गायें और साठ भैंसें थी, दूध इतना होता था कि सब गायें नहीं दुह पाती थीं। दिनभर बछड़े पिया करते। लोगों का कहना है कि उसकी गायें खूब चरी हुईं हृष्ट-पुष्ट थीं और साथ ही इतनी विकट कि कोई उन्हें हाथ नहीं लगा पाता था। वे इतनी सधी हुई थी कि उनके गोल में सहसा शेर भी नहीं घुस सकता था। सोनेराम अपनी गायों को चरने जंगल में छोड़ देता था और स्वयं महाराज जी के लिये भोग लेकर करह पहुँचता। वहाँ से गायों की रखवाली में पहुँच जाता था। एक समय की घटना है। गायें जंगल में चरने गयीं थीं। उन गायों की टोह में चोरों का एक गिरोह कई दिनों से लगा था। संयोगवश सोनेराम भगत जंगल में गायों की रखवाली में नहीं पहुँच पाया। गायें अकेली चरतीं रहीं। चोरों ने इस अवसर से लाभ उठाया। वे पर्याप्त संख्या में थे। सबने मिलकर गायें हाँक लीं और उन्हें वे चम्बल नदी के बीहड़ में घेंसा ले गये। धनेले गाँव के पास 'मारवाड़ी पुरा' है। सोनेराम भगत वहीं रहता

था। वहाँ उसने देखा कि करह वाले बाबा महाराज चले आ रहे हैं। उसने दौड़कर चरणों में प्रणाम की। महाराज जी बोले—ए̐ रे भगत, चोर तेरी गायों को 'चम्बल' के अमुक बीहड़ में धँसा ले गये हैं, जल्दी जाओ। सुनते ही सोनेराम दौड़ा और उसी स्थान पर जा पहुँचा। गायें काफी दूर थीं। सोनेराम ने एक टीले पर चढ़कर एक विशेष प्रकार की किलकारी दी। उसकी आवाज जैसे ही सुनी सारी गायें झुंड बाँधकर उलट पड़ीं—चोरों का घेरा तोड़कर पूँछ उठाये सोनेराम के शब्द-संकेत पर दौड़ आईं, चोर उन्हें न रोक सके—गायें घर आ गयीं। सोनेराम प्रसन्न होकर 'करह' पर बड़े महाराज जी के पास गया। चरणों में गिर पड़ा और बोला—महाराज जी! आपने मेरे लिये बड़ा कष्ट उठाया कि सूचना देने इतनी दूर चलकर पहुँचे।" महाराज जी ने मुसका के कहा—'ए̐ रे भगत! हमतो कहीं गये न आये। यह तो रामजी की लीला है।' सोनेराम समझ गया। महाराज जी की महिमा गाँव-गाँव फैल गयी।

पशुयोनि में भी सन्त

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः
शूराः शरण्याः सौमित्रे ! तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।

वा० रा० अरण्य०

"जटायु के प्रसंग में श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं— हे लक्ष्मण! धर्म का आचरण करने वाले साधु, शूर एवं शरण देने वाले प्राणी तिर्यक् योनियों में भी देखे जाते हैं।"

पूज्य श्री महाराज जी के लिये भोग लाने वालों में अभी तक सोनेराम भगत का ही प्रथम स्थान था। अब 'खैरवाहे' का भगत दुल्ली और उसका छोटा भाई हुकुमसिंह भी भोग लेकर जाने लगे। महाराज जी के प्रति छोटे भाई हुकुमसिंह का बड़ा स्नेह था। अपने

यहाँ से प्रतिदिन वह दूध-रोटी ले जाता, दही ले जाता, किन्तु उसे एक बात खटकती। बड़े महाराज जी दूध रोटी ग्रहण करते बहुत स्वल्प। उसमें से अधिकतर भाग 'बण्डा भगत' को दे देते थे। बण्डा भगत एक कुत्ता था। उसके पूँछ नहीं थी, अतः महाराज जी उसे 'बण्डा भगत' कह के पुकारते थे। उनका कथन था कि "यह एक साधु है, किसी अपराध के कारण कुत्ता बन गया है। वैसे बड़ा भक्त है यह।" वास्तव में बण्डा भगत बड़ा विलक्षण था। जब कोई भक्त पूज्य महाराज जी के दर्शनों को आता और वह जंगल में मार्ग भूल जाता तो महाराज जी की कुछ ऐसी प्रेरणा होती थी कि बण्डा भगत तीर की तरह छूटता और भूले भगत को रास्ता दिखाता स्थान पर ले आता था। पूज्य श्री छोटे महाराज जी (बड़े महाराज जी के यशस्वी शिष्य बाबा रामदास जी) करह पर आते तो बण्डा भगत दौड़कर चरणों में सिर रख देता था। बड़े महाराज जी के चरणों में तो प्रतिदिन प्रणाम करता था। उसमें दूसरी विचित्रता यह थी कि वह एकादशी के दिन अन्न नहीं खाता था। बहुत से लोगों ने उसकी परीक्षा की। बण्डा भगत खरा उतरा।

यदि कोई एकादशी के दिन उसे मालपुआ, पूड़ी आदि देता तो बण्डा भगत उसे मुँह में दबाकर दूर ले जाता और जंगल में पंजों से गड्ढा खोद कर गाड़ आता था, और द्वादशी के दिन निकाल के खा लेता था। उसका यह आचरण बहुत ही आश्चर्य जनक था। पूज्य महाराज जी तो कहते थे—"भैया! यह वैष्णव है। एकादशी को अन्न कैसे ले सकता है?"

बण्डा भगत की तीसरी विलक्षणता एक और थी। वह उस भक्त की रोटी कदापि नहीं खाता था जो उसे प्रेम से नहीं देता था। एक-बार की बात है। 'खैरवाहे' का भगत हुकुमसिंह महाराज जी के लिये दूध रोटी का भोग लाया। उन्होंने उसमें से थोड़ा-सा ग्रहण किया शेष सब बण्डा भगत के आगे बढ़ा दिया। हुकुमसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। बिना कहे उससे रहा भी न गया। वह बोला—

'महाराज जी। दूध रोटी तो हम आपके लिये लाते हैं, आप उसे कुत्ते को दे देते हैं। कुत्तों को ही खिलाना होगा तो कुत्ते हमारे गाँव में ही बहुत हैं!" पूज्य महाराज जी सुनकर कुछ गम्भीर हो गये और बोले 'अरे भैया भगत! हमारे लिये बण्डा भगत कुत्ता नहीं, साधु है। यदि तुम इसे कुत्ता मानते हो तो दूध रोटी मत लाया करो। हमें कोई अपना शरीर तो मोटा करना नहीं है कि दूध पिया करें।" यह सुन कर हुकुमसिंह बहुत लज्जित हुआ। महाराज जी से क्षमा मांगी। गाँव चला गया। दूसरे दिन वही भक्त दूध रोटी लेकर फिर आया। महाराज जी ने अन्य दिनों की भाँति उस दिन भी बण्डा भगत के सम्मुख सरका दी किन्तु बण्डा भगत ने उधर से अपना मुँह फेर लिया। हुकुमसिंह के भोग का एक कण भी नहीं छुआ! एक महीने तक उसका यही रुख रहा। वह दूसरों के लाये भोग से ग्रहण कर लेता था, उसके भोग को देखता भी नहीं था। इसी बीच एक दुर्घटना होगयी। हुकुमसिंह भगत की छः भैंसों को सिंह ने मार दिया। भगत बड़ा दुखी हुआ। महाराज जी के सामने रोया। महाराज जी बोले—'भैया बण्डा भगत नाराज है। उसने एक महीने से तेरा अन्न ग्रहण नहीं किया है। साधु गाय होते हैं किन्तु उनका अपमान सिंह बन जाता है। यह उसी की लीला है।

उसे तू मनाले। फिर कभी ऐसी लीला न होगी। हुकुमसिंह बण्डा भगत के लिये मीठा लाया। सामने रखकर उसके चरण छुए। किन्तु बण्डा भगत ने मीठे की ओर से मुँह फेर लिया। तब बड़े महाराज जी ने कहा—'अरे बण्डा भगत! अधिक क्रोध करना ठीक नहीं। साधु मानापमान का विचार नहीं करते। सन्तों का भूषण तो क्षमा है। अब तुम हुकुमसिंह भगत का अन्न ग्रहण करो, यह सुनकर बण्डा भगत ने एक बार महाराज जी की ओर देखा और सिर झुकाकर प्रसाद पाने लगा।

धीरे-धीरे बण्डा भगत की बड़ी ख्याति होगयी। लोग उसके नाम से मनौतियाँ मनाते। कार्य सिद्धि होने पर सत्यनारायण की कथा

कहलाते थे। एक बार तो बण्डा भगत 'हट्टपुरा' गाँव में न्योंता खाने भी गये। घटना इस प्रकार है, हट्टपुरा का एक भगत था। वह बड़े महाराज जी के पास गाँव से सातवें दिन आया करता था। रामनाम खूब लेता था। उसकी जीभ लगती थी अतः 'सीताराम' को 'चीटाराम-चीटाराम' कहता। भगवान् तो भाव के भूखे होते हैं। उसका हृदय शुद्ध था। नाम पर विश्वास था। इसलिये उस पर महाराज जी की ऐसी कृपा हुई कि उसे भावी घटनाओं का कुछ आभास मिलने लगा। वह 'चीताराम-चीताराम' कहते-कहते झँपकी लेने लगता। सहसा चैतन्य होकर कहता 'महाराज जी! आज तो बनेले से खीर पूड़ी आरही हैं" थोड़ी देर में सचमुच ही खीर पूड़ी आ पहुँचती। कभी झँपकी लेकर कहता 'महाराज जी! आज तो एक भगत भंडारा करने आरहा है" महाराज जी कहते—'अरे भगत! तुम खाने पीने का ही ध्यान किया करते हो? भगत हाथ जोड़ के कहता 'नहीं महाराज जी, सब आपकी ही लीला है।" वह इसी तरह की कौतुकभरी बातें किया करता। अतः पूज्य श्री महाराज जी उसे 'कौतुकीनाथ' कहा करते थे। एक बार कौतुकीनाथ ने श्री छोटे महाराज जी से कहा—'मेरे घर आपका निमन्त्रण है। हट्टपुरा भोजन करने पधारिये।' उस समय छोटे महाराज जी का जीवन कठिन साधनामय था। वे कहीं निमन्त्रण पाने नहीं जाते थे अतः उन्होंने कौतुकीनाथ का न्योंता स्वीकार नहीं किया। श्री बड़े महाराज जी बोले—'अरे भैया कौतुकीनाथ! आज तो तेरे घर यह बण्डा भगत निमन्त्रण पाने जायगा। इसी को प्रेम से खिलाना" कौतुकीनाथ ने स्वीकार कर लिया और वह घर चले गये।

कौतुकीनाथ ने विविध प्रकार के व्यंजन बनवाये। ठीक दोपहर के समय बण्डा भगत 'करह' से उठे और चल पड़े। आश्चर्य की बात यह थी कि इसके पूर्व बण्डा भगत को 'हट्टपुरा' गाँव का मार्ग भी ज्ञात नहीं था। किन्तु चल पड़ा तो सीधा हट्टपुरा पहुँचा! केवल हट्टपुरा ही नहीं, वह सीधे कौतुकीनाथ के घर जाकर उसके चौके में

जाखड़ा हुआ। कौतुकीनाथ ने सादर चरण धोये। उसकी माता ने आरती उतारी। विविध प्रकार के भोजन परोस कर जिमाये। भोजन के बाद बण्डा भगत उठकर चल पड़े और करह पर आ पहुँचे।

'बण्डा भगत को दण्ड'

जो सन्त प्रभु का साक्षात्कार कर लेते हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान हो चुकता है, उनके मनको विषय नहीं खींच सकते। पारस के स्पर्श से जो लोहा सोना बन चुकता है वह फिर लोहा नहीं हो सकता। परन्तु जो साधक कोटि के साधु हैं, उनके लिये विषयों का आकर्षण बना ही रहता है। यद्यपि बण्डा भगत का आचरण पशु-जैसा न होकर एक नम्र सन्त जैसा था परन्तु उसका जन्म तो पशु-योनि में हुआ था—वह भी कुकुर की नीचयोनि में। उसके प्रभाव से वह कैसे अछूता रहता ?

क्वार का महीना था। बण्डा भगत अपने भगत-रूप को भूलकर जगत-रूप में पड़ गये। दिन-दिन भर अन्य कुकरों के साथ बण्डा की नोंच-खसोट चलने लगी। विषय के प्रबल नशा में बण्डा खाना-पीना भी भूल जाता और यह भी नहीं देखता था कि यहाँ रामनाम का कीर्तन होरहा है या भगवान् की कथा होरही है। बुरीतरह भोंकना, कुत्तों से लड़ना और विषय के पीछे दौड़ना, यही काम था उसका। पूज्य बड़े महाराज जी ने जब बण्डा का यह विरुद्ध आचरण देखा तो रुष्ट होकर बण्डा से बोले—"क्यों बण्डा भगत! रामजी का प्रसाद खा-खाकर यह काम करते हो ? एक बार चूके तो कुत्ता बने अब की बार चूके तो कहाँ गिरोगे 'यह नहीं सोचा ?" सुनते ही बण्डा भगत का बुखार उतर गया। वह पूँछ दबाकर एक कोने में जा बैठा। खाना-पीना छोड़ दिया। एक महीने का उपवास कर डाला। शरीर में केवल हड्डियाँ रहगयीं। एक स्थान पर पड़ा रहता। शरीर से बदबू आने लगी। एक-दो साधुओं ने कहा, 'महाराज जी! बड़ी बदबू आती

है, इसे यहाँ से अलग हटा दिया जाय" महाराज जी तब बण्डा भगत के पास गये। उसके दुर्गन्धि-पूर्ण एवं अस्थिमात्र विकृत शरीर पर कृपा का हाथ फेरा। उसे रोटी खिलाई। और तब बण्डा भगत ने खाना शुरू किया। थोड़े ही दिनों में उसका शरीर चङ्गा होगया।

रहनी

अहेरिव गणाद् भीतः सम्मानान्नरकादिव.
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्या मधिगच्छति।

अर्थ—जो जन समूह से ऐसे डरता है जैसे सर्प से, सम्मान से ऐसा डरता है जैसे नरक से और स्त्रियों से ऐसे डरता है जैसे राक्षसियों से, वही विद्या प्राप्त कर सकता है।"

शास्त्रों में कुछ ऐसे निषेध-वचन आते हैं जिनका वाच्यार्थ निन्दा-परक प्रतीत होता है पर वास्तव में उनका तात्पर्य किसी की निन्दा में नहीं, संयम एवं त्याग में होता है। वैद्य किसी रोगी को मना करता है कि अमुक पदार्थ तुम्हारे लिये विष है, तो इसका अर्थ विष नहीं होता। "सन्निपात के रोगी के लिये शीतल जल का स्नान मृत्यु-तुल्य है" इसका अर्थ, शीतल जल की निन्दा नहीं, केवल विशेष परि-स्थिति में वह अग्राह्य है, बस इतने में ही वाक्य का तात्पर्य है। साधना के पथ में भी शास्त्रीय वाक्यों का यही अर्थ लेना चाहिए।

करह आश्रम पर पूज्य श्री महाराज जी का आरम्भिक जीवन भी कठिन साधनामय था। वे रात के समय किसी भी स्त्री या पुरुष को ठहरने नहीं देते थे, दर्शनार्थ लोग दिन में आते और सूर्यास्त से पहले ही चले जाते थे। एक बार पूज्य श्री महाराज जी की माता आईं। उनका आदर किया। वे सारे दिन रहीं। रात भर आश्रम पर ही रहने की इच्छा प्रकट की, किन्तु श्री महाराज जी ने माँ को भी आश्रम पर रहने से मना कर दिया। माँ के हृदय को चोट पहुँची और उन्होंने आग्रह पूर्वक रात भर रहने का निश्चय किया। महाराज जी चुप रह

गये, रात के समय माता के सम्मुख ऐसे भयानक दृश्य आये कि वे घवड़ा गयीं। उसके पश्चात् वे फिर कभी आश्रम पर नहीं गयी।

महाराज जी के सिर पर बड़ी-बड़ी जटाएँ हो गयी थीं। तपस्वी महाराज के शिष्य थे। अतः शरीर पर भस्म रमाते थे। पास में एक तूमा और एक चिमटा था। तुम्बी का कमण्डलु टूट गया तो किसी भक्त ने मिट्टी का पात्र लाके रख दिया। उन्होंने इसे भी प्रभु की इच्छा का ही कार्य समझा। वे उस मिट्टी के पात्र को ही काम में लाने लगे। इसी बीच एक संन्यासी आश्रम पर पधारे। महाराज जी के समीप मिट्टी का 'चपटा' देखकर उन्होंने कहा—यह तुम्हें शोभा नहीं देता। गीता कर्म का उपदेश देती है। तुमको कर्मकाण्ड का पालन करना चाहिए। तुम कैसे वैष्णव हो ? शास्त्र के अनुसार मिट्टी के पात्र को एक बार मुँह से लगाने के पश्चात् उसे फेंक देना चाहिए।" संन्यासी सन्त इतना कहके चुप न हुए, उन्होंने मिट्टी के पात्र को हटाकर धातु पात्र रखवा दिया। वे तो निरभिमान थे। सब से प्रभु की प्रेरणा प्राप्त करते थे। रज्जब ने कहा है—

दो० रज्जब रोष न कीजिये कोउ कहै ये यों हि।
हँसकर उत्तर दीजिये "हां-हां बाबा योंहि।"

उन्होंने लोटा रख दिया तो लोटे को काम में लाने लगे। एक बार प्रभु की प्रेरणा से एक ब्राह्मण देवता आये। लोटा देखने में अच्छा था। ब्राह्मण देवता उसे मांग बैठे। महाराज जी ने दे दिया। उनके लिए यह भी प्रभु की ही प्रेरणा थी। फिर मिट्टी का पात्र रहने लगा। एक दिन सीतापुर के एक वैष्णव सन्त आये। वे महाराज जी के ही बड़े गुरु भाई थे। 'चपटा' रखना उन्हें भी पसन्द न था। अतः उन्होंने उस पात्र को फोड़ दिया। उसकी जगह बड़ा-सा साधू-साही लोटा रख दिया। वे रखकर गये तो एक राम के भेजे आ पहुँचे। और बोले—'महाराज जी! कुछ मिल जाय" पूज्य श्री महाराज जी के पास भौतिक वस्तु वहां क्या थी! वही एक लोटा था। उठा के दे

दिया। मिट्टी का पात्र फिर आ गया। इसी को प्रभु प्रेरणा मानकर उसी पात्र को रखने लगे।

पूज्य श्री महाराज जी के माथे पर जटाओं का जाल सा फैल गया था। उन्हें कौन संभाले? यहां तो स्वयं शरीर की संभाल नहीं थी। जंगल में आजादी से उगी हुई लताओं की तरह जटाएँ सिर पर छितरा गई थी। उलझ-पुलझ कर वे मुख पर आतीं, पीठ पर जाती, कन्धों पर फैल जाती थी। उनकी कोई रोक-टोक नहीं थी। होती भी कैसे? आखिर बड़ों के सिर पर जो चढ़ी थी! जंगल के जीव-जन्तुओं की तरह उन जटाओं में भी जीव पैदा हो गये। महाराज जी के सिर में तमाम फोड़े हो गये। वे फोड़े भी इतने दिनारे हो गये कि उनमें भी जीव-जन्तु किलोलें करने लगे! कई भक्तों को बड़ा दुःख होता था किन्तु कोई बस नहीं चलता था। महाराज जी को उन कीड़ों पर भी दया थी। अन्ततः एक दिन पूज्य महाराज जी ने अपने माथे से उन सब जटाओं को उतार कर रख दिया जैसे कोई सिर से टोपा उतार कर रख देता है। सिर के सारे बाल अलग हो गये। केवल दाढ़ी रह गयी। 'खैरवाहे' के भक्त मनोहर ने उन जटाओं को अयोध्या ले जाकर श्री सरयू में प्रवाहित कर दिया।

विरही जीवन

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेद-भीरुता,
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्।

अर्थ—"प्रिय को विना देखे, जी देखने को व्याकुल रहता है। देखने पर हृदय इसीलिये व्याकुल रहता है कि कहीं चले न जायें। अतः हे प्रभो! तुम्हें न विना देखे चैन न देखे चैन!"

पूज्य श्री बड़े महाराज जी के जीवन में एक बात स्पष्ट ही दृष्टि गोचर होती थी। वे प्रेम की प्रतिमा थे। माला में पिरोये सूत्र की तरह उनकी जीवन-माला में प्रेम का धागा पिरोया हुआ था। उनकी

वाणी ऐसी थी मानो करुणा की वीणा बजती है। साधना के समय और साधना के पश्चात् सिद्धावस्था में भी वे सदा विरही रहे। प्रभु-विरह ने उनके मर्म को बेध दिया था। आश्रम में रहते ! लोग दर्शनों के लिए आया करते थे। समीप में रामायण की पुस्तक रखी रहती थी। जहां कोई पहुँचता, रामायण की ओर संकेत कर देते थे। यदि कोई पढ़ा होता तो वह रामायण बांच के सुनाता नहीं तो कीर्तन करता। जहाँ प्रभु की चर्चा हुई कि वे गद्गद् हो जाते थे। यदि कोई मधुर कंठ से प्रेम पूर्वक रामायण की चौपाइयां पढ़के सुनाता तो महाराज जी के नेत्रों से आँसुओं के झरने बहने लगते थे। मुँह से बोल नहीं फूटता था। रोते-रोते आँखें सूज जाती थीं। अत्यन्त करुणा से पुकारने लगते थे—"हे राम जानकी, दया करो" इसी विरहावस्था में वे घंटों पुकारा करते। उन्हें अपने शरीर की सुध-बुध नहीं रहती थी। कई बार ऐसा होता था कि वे जिस पटिया पर बैठते, उसके चारों तरफ बहुत-से बिल और दरारें थी। उनमें से लाल चीटियों के दल निकलते। वे महाराज जी के शरीर पर चढ़ जाते। बिच्छू, कांतर शरीर पर रेंगा करते। छोटे महाराज जी घबड़ा के कहते—'महाराज जी ! आप वहां से उठ आइये'। बड़े महाराज जी मुसकरा के कहते—'अरे एँरे भैया, वो तो रामजी की सेना है। रामजी का दल तो सन्तों की रक्षा करता है।" और वास्तव में न कभी बिच्छू ने काटा न किसी चींटी चींटे ने ही काटा। वे तो श्री रघुनाथजी के विरह में इतने विह्वल रहते थे कि इन्हें इन सब बातों का ध्यान ही नहीं रहता था। उनका शरीर सूख कर कांटा हो गया था। खड़े होने में हड्डियाँ चटकती थी। शरीर में मांस तो नाम को भी नहीं था। रहता भी कैसे ?

दो० 'कबिरा' पिय जिय में बसे, तन में रहे न मास।
यही गनीमत जानिये हाड़ चाम अरु सांस।

भयानक जीवों में भगवद् भावना।

भीति र्नास्ति भुजङ्गपुंगव-विषात् प्रीतिर्न चन्द्रामृतात्,
नाशौचं हि कपाल-दाम-लुलनाच्छौचं न गंगाजलात्।
नोद्वेगश्चिति-भस्मना न च सुखं गौरी-स्तनालिंगनाद्
आत्मारामतया हिताहितसमः स्वस्थो हरः पातु वः।

—सूक्ति रत्नाकर

अर्थ—जिन्हें सर्पराज के विष से भय नहीं और चन्द्रमा के अमृत से प्रीति नहीं, जिन्हें मुण्डमाला से अपवित्रता नहीं और गंगा-जल से पवित्रता नहीं; जिन्हें चिता-भस्म से उद्वेग नहीं होता और जिन्हें गौरी का आलिङ्गन सुख नहीं देता तथा आत्माराम होने के कारण जिनकी दृष्टि में मित्र-शत्रु समान हैं वही भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें।"

करह पर सर्पों का बड़ा निवास है। वे जहाँ तहाँ घूमा करते है। कई बार ऐसी विचित्र लीला हुई कि कोई भक्त रामायण सुना रहा है तो उसके सामने सर्प आ बैठता था। जब कोई घबड़ाने लगता तो बड़े महाराज जी कहते—'अरे एँरे भैया, ये तो सिद्ध बाबा हैं। कथा सुनने आये हैं। तुम घबड़ाओ मत। प्रेम से कथा सुनाओ।' एक संन्यासी आये। नाम था प्रेमानन्द। वे रामायण की कथा कहने बैठे। थोड़ी ही देर में एक विशालकाय सर्प सामने आया और आसन लगाके बैठ गया। संन्यासी महाराज बहुत घबड़ाये। बड़े महाराज जी ने कहा—'आप डरें नहीं। यह तो शेष भगवान हैं।' महाराजजी के समझाने पर उन्हें कुछ धैर्य हुआ और वे आगे की कथा कहने लगे। उधर शेष भगवान ने अपनी पालथी खोली तथा धीरे-धीरे संन्यासी जी की ओर बढ़े। संन्यासी जी की भी इधर पालथी खुलने लगी। बड़े महाराज जी ने हँसकर कहा—'घबड़ाइये नहीं, शेष भगवान आप पर कृपा कर रहे हैं।'

महाराज जी की बात थी। जो कड़ा करके बैठे रहे, अन्ततः

संन्यासी जो ठहरे ! 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उपदेश तो उन्हें भी मालुम था। आज उसकी परीक्षा थी। शेष भगवान आगे बढ़े और बढ़कर उन्होंने उनकी पीठ पर फण रख दिया। धीरे-धीरे पीठ के सहारे सर्प राज संन्यासी जी के सिर पर चढ़ गये ! तथा अपनी फूल-सी काया से उनके सारे शरीर को लपेट लिया ! महात्मा का सारा शरीर कंटकित हो गया। पसीने से तर बतर हो गया। बड़े महाराज जी ने बहुत-बहुत धैर्य दिया कि आप डरें नहीं, ये शेष भगवान हैं, बोलेंगे नहीं, आप कथा कहते रहिये।" किन्तु संन्यासी जी के मुँह से बोल न फूटे। शरीर थर-थर काँपने लगा। तब बड़े महाराज जी ने हाथ जोड़कर कहा—'शेष भगवान, आप पधारो। आपकी लीला से महात्माजी डर गये हैं।' इतना कहना था कि सर्पराज महात्मा के सिर से उतर कर अपने बिल में चले गये। संन्यासी को बुखार चढ़ आया। दो दिन बाद उतरा।

शेष भगवान बड़े महाराज जी से खूब हिल-मिल गये थे। जब कहीं से कोई भक्त महाराज जी के लिए दूध लाता कि शेष नाग पहुँच जाते और दूध के भरे लोटे में अपना मुँह डाल के भरा हुआ लोटा चढ़ा जाते थे। दूध पीने के पश्चात् उनका पेट फूल जाता ठीक से चला भी नहीं जाता था अतः वे लुकढ़ते-पुढ़कते चलते और या तो हनुमान जी की मूर्ति के पीछे छिप जाते या महाराज जी की पटियाँ के नीचे जा बैठते थे। कोई भक्त भगाने का प्रयत्न करता तो उसे रोक देते और कहते—'अरे नहीं, ये शेष भगवान हैं, क्षीर सागर के रहने वाले हैं अतः दूध पीने की आदत हो गयी है। रोकोगे तो नाराज होंगे।" बेचारा भक्त सिर झुका कर रह जाता। पूज्य महाराज जी की जो भयानक प्राणियों में भी भगवद् भावना थी उसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि दूसरे लोग भी उन्हें उसी भाव से देखने लगे। जंगल से एक बिलौटा आया करता। महाराज जी उसे 'नरसिंह' की पदवी से भूषित करते थे। कुत्तों को 'विट्ठल भगवान' सर्प को 'शेष भगवान्' सिंह को 'नरसिंह भगवान्' कहके पुकारते।

जब ये विषैले जीव ही भगवान् थे तब इतर प्राणियों का तो कहना ही क्या था ? ऐसी दशा में यह भी सम्भव नहीं था कि उन प्राणियों पर प्रभाव न पड़े। योग सूत्र का सिद्धान्त है :—

—अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

"जिस पुरुष में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है, उसके समीप वैर का त्याग हो जाताहै।" उसी के फलस्वरूप हिंसक प्राणी भी उनके समीप अपनी क्रूर वृत्तियों का परित्याग कर शान्त स्वभाव के बन जाते थे। लोगों ने अपनी आँखों से देखा कि सिंह, बाबा महाराज के पास तक चले जाते थे। एक बार की बात है। महाराज जी के समीप करह पर दो चार साधु रहने लगे थे। पूज्य छोटे महाराज जी भी थे। एक दिन प्रातः महाराज जी दन्तधावन कर रहे थे कि इतने ही में दो सिंह कहीं से चले आये। दोनों सिंहों की अवस्था अधिक नहीं थी। उन्हें देखकर महाराज जी मुसकाने लगे, बोले—'आज तो राम लखन की जोड़ी दर्शन देने आयी हैं" यह कहके उठ खड़े हुए और लगे उन्हें दण्डवत करने ! वे दोनों मस्ती से घूमकर चले गये।

करह स्थान पर एक कुतिया थी। उसका भूँकने का स्वभाव अधिक था। इसलिए लोग उसे 'लड्डूलूहरी' कह के पुकारते थे। एक बार संध्या के समय पूज्य महाराज जी सरयू कुण्ड के समीप बैठे भजन कर रहे थे। लड्डू लूहरी कुतिया बाबा के पास बैठी थी। इतने में झाड़ी से निकल कर सरयू के झरने पर जल पीने के लिए एक सिंह आया। लड्डूलूहरी ने सिंह को देखा। सिंह के सामने श्वान की क्या शक्ति कि वह भूँक भी सके ! परन्तु महाराज जी के समीप बैठी लड्डू लूहरी उस शेर से क्यों डरने लगी ? उसने भूँकना शुरू किया। वन-राज सिंह इस तुच्छ कुतिया की क्या परवाह करता ? वह आकर जल पीने लगा कि लड्डू लूहरी भूँक कर ही सन्तुष्ट न हुई सिंह के मौन को भय का सूचक मान कर उसने उसकी ओर बढ़ना शुरू किया ! अब सिंह ने मुड़ कर देखा और एक हलकी-सी हुँकार के साथ वह कुतिया की ओर लपका। लड्डू लूहरी को जिनका बल था उन्हीं के पीछे जाकर

'क्रूँ क्रूँ' करने लगी। बनराज महाराज जी के ठीक सामने आ खड़ा हुआ। महाराज जी बोले—'अरे महाराज' आप तो बन के राजा हो, हम तो आपके राज्य में ही रहते हैं—'यह कुतिया आपके क्रोध के योग्य नहीं है। इस पर दया करो।'' सुनते ही सिंह घूम कर चलता बना। सिंह को जाते देखकर लक्कू लूहरी का बल चौगुना बढ़ गया और उसने अपना मौखिक बल खूब प्रकट किया। करती भी क्यों न ?

—प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु व्याल

एक बार रामायण की कथा होरही थी। पूज्य छोटे महाराज जी रामायण बाँच रहे थे। दो चार सेवक बैठे थे। पूज्य महाराज जी के नयनों से करुणा का जल झर रहा था। इतने ही में शेष भगवान् आ पहुँचे। परन्तु अब कोई उनसे अधिक नहीं डरता था। डरता भी क्यों ? वे तो अब एक परिकर के प्राणी बन गये थे। वह बढ़कर आये और उन्होंने बड़े महाराज जी के चरणों में अपना फन रखकर अपने प्राण अर्पित कर दिये। रामचरित्र सुनते-सुनते एक सन्त शिरोमणि के चरणारविन्दों में अपने प्राण छोड़ने वाले उस सर्पराज पर बड़े-बड़े तपः पूत साधु भी निछावर हैं। धन्य है उसके भाग्य, धन्य है उसका मरण !

अपार सहन शीलता

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्
अजातशत्रवः शान्ताः साधवस्साधुभूषणाः ।
—श्री भाग० ३ ३५ ।

अर्थ—साधु-भूषण सन्त, सहन शील, करुणा पूर्ण समस्त प्राणियों के सुहृद, अजातशत्रु एवं शान्त होते हैं''

वे सन्त पृथ्वी के भूषण हैं जिन के दृष्टि में समस्त प्राणी राम रूप हैं। उनके लिये मानापमान का प्रश्न ही कहाँ ? अपने प्रति किये

दुर्व्यवहार को वे अपने दुष्कृतों का परिणाम मानकर कष्ट पूर्वक नहीं सहते, अपितु उसे प्रभु प्रेरणा का परिणाम मान कर उसके सहन में आनन्द का अनुभव करते हैं। उसमें कटुता नहीं, मृदुता होती है। यही कारण है कि अपमान करने वाले के प्रति उनके हृदय में दुर्भाव का प्रादुर्भाव नहीं होता।

महाराज जी के दरबार में कितने ही पागल सिड़ी पड़े रहते थे। एक-न-एक सिड़ी तो अवश्य रहता था। वे इस दरबार के विदूषक थे। पर उनकी ऊटपटांग बातें बड़े महाराज जी को ही आनन्द देती थीं। दूसरों को तो क्रोध आता और दुःख होता था, क्योंकि वे महाराज जी से बुरे-बुरे कटु बचन कह डालते थे। कटु बचन ही नहीं, अत्यन्त उद्दण्डता का व्यवहार करते थे परन्तु महाराज जी मन्द-मन्द मुसकान के साथ अत्यन्त प्रसन्न होते थे बल्कि यह कहना चाहिए कि वे ऐसे ही लोगों से अधिक प्रसन्न रहते थे। हाँ, वे पागल कभी-कभी तो मदारी के जमूरे को तरह उन्हीं का अभिप्राय प्रकट करते थे। बड़ी सटीक भविष्य बाणियाँ करते थे, जिस से तमाम भक्त उन्हीं की करामात समझ लेते और उन्हें पूज्य महाराज जी के शब्दों में 'सिर्री भगवान्' कहते थे। पूज्य महाराज जी की प्रेरणा के पवित्र पात्र पागलों की कथा को पावन मानकर हम उनकी कुछ चर्चा कर रहे हैं

'दूँदनाक बाबा'

वैसे तो इनके नाम से ही इनका कुछ काम प्रकट होता है फिर भी हमें विशेष रूप से बताना होगा। ये महाशय बात-बात पर 'दूँदन-नन' किया करते थे अतः लोगों ने इनका नाम करण कर डाला—दूँदनाक बाबा,। ये करह पर आये। उस समय पूज्य बड़े महाराज जी के सर्व प्रथम शिष्य बाबा लखनदास जी महाराज उनके पास थे। संवत् १९८१ में वे महाराज जी के शरणापन्न हुए थे। उनके पश्चात्

उसी साल ५-६ महीने बाद श्री छोटे महाराज जी उनकी शरण में आये।

पूज्य श्री लखनदास जी महाराज तब से बराबर परमहंस-वृत्ति में रहते हैं। महाराज जी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये हम उनकी सेवा में पहुँचे थे। शरीर के अशक्त एवं अस्थिमात्र अवशिष्ट रहने पर भी तथा मिलने का समय न होने पर भी वे कृपा पूर्वक मिले। पूज्य बड़े महाराज जी के आँखों देखे चरित्र एवं स्वयं अनुभूत बातें बताईं। उन्होंने 'ढूँदनाक, के सम्बन्ध में बताया था कि वह महाराज जी को बहुत तङ्ग करता था। उस पर कोई क्रुद्ध होता तो महाराज जी उसे शान्त कर देते। एक बार ढूँदनाक को बुखार चढ़ आया। जाड़े के दिन थे। बड़े महाराज जी के पास केवल एक-दो वस्त्र थे, ढूँदनाक बुखार में काँप रहा था। उसे सारे कपड़े उढ़ा दिये। उसके पास बैठे, उसे सारी रात दबाते रहे। वह कहता-'कमर दबाओ, तो कमर दबाने लगते। कभी सिर दबाने की कहता तो सिर दबाने लगते और कभी चरण दबाने लगते। सारी रात उसकी सेवा करते रहे। स्वभाव उस बाबा का ऐसा था कि उसके पास कोई न फटकता।

जब वह आया ही आया था तो मन्दिर में महाराज जी के पास रहने लगा। महाराज जी की सेवा में भक्त लोग गाँवों से दूध-दही का भोग लेकर आया करते थे। ढूँदनाक बाबा यह देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ। बड़े महाराज जी से बोला—अरे बाबा! यहाँ तो बड़े माल आते हैं। तू कहे तो मैं यहीं बना रहूँ?" महाराज जी ने कहा—'रहो सन्त भगवान्।' ढूँदनाक रहने लगा। अब तो उसके यह हाल थे कि दोपहर हुआ नहीं कि दही-दूध लाने वालों को मार्ग में ही जा रोकते। वहीं सब खा पीलेते। महाराज जी तक तो आभी नहीं पाता था।

कुछ दिनों बाद उसने एक तीर-कमान बनाई। तीर तान कर आप महाराज जी के सम्मुख आखड़े हुए और बोले "बताओ, मैं कौन हूँ?"

"महाराज! आप सन्त भगवान् हैं" —महाराज जी ने उत्तर दिया।

ढूँदनाक ने दपट कर उत्तर दिया—

"नहीं, मैं सन्त भगवान् नहीं हूँ"

"तब आप कौन हैं?"

—हाथ जोड़कर महाराज जी ने पूछा।

मैं धनुषधारी रामचन्द्र हूँ" —उनका उत्तर था।

बड़े महाराज जी अत्यन्त श्रद्धा से हाथ जोड़ कर बोले—

"अच्छा महाराज, आप धनुषधारी राम हैं।"

बाबा बोला—'तो तुम मुझे धनुषधारी भगवान मानते हो?'

"हाँ महाराज" —महाराज जी ने स्वीकार किया।

"अच्छा, तब तो तुम मेरी आज्ञा भी मानोगे?"

महाराज जी ने नम्रता से स्वीकार किया तो आप बोले—

"हम धनुषधारी राम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि तुम इस मन्दिर से निकल जाओ।"

बड़े महाराज जी तत्काल निकल आये और वहाँ आ बैठे जहाँ आजकल करह पर सन्त-निवास बना है। पहले वहाँ पत्थरों को आड़े-तिरछे रखकर किसी ने एक कुलिया-सी बना रक्खी थी। महाराज जी वहीं आ बैठे और बराबर दस महीने तक वहीं रहे। जब प्रातः सरयू-कुण्ड पर स्नान करने जाना होता तो मन्दिर की ओर से न जाकर बरगद की बगल से निकल जाते थे। यदि कोई भक्त पूछ बैठता कि महाराज जी, मन्दिर में क्यों नहीं रहते तो बड़ी गम्भीरता से उत्तर देते—'भैया, रामजी की आज्ञा नहीं है।" इस सरल उत्तर से सरल भक्तों का प्रश्न हल हो जाता था। इसके आगे वे कुछ न पूछते।

इस प्रकार सरदी, गरमी इन्हीं पत्थरों पर बितादी। एक बार की बात है। आषाढ़ का महीना था। धुरैयाबसई के सुघरसिंह ठाकुर महाराज जी के दर्शनार्थ आये। उनके पास बैठकर उन्हें रामायण

सुनाई । आकाश में बादल छाये थे । बूँदा बूँदी होने लगी । सुघरसिंह ने कहा—महाराज जी ! यहाँ रामायण भींग जायगी । मन्दिर में चलिये । "महाराज जी ने कहा—भैया, मन्दिर में जाने की आज्ञा नहीं है ।" ठाकुर सुघरसिंह पूज्य महाराज जी के मुँह लगे भक्तों में से थे । उन्होंने कहा—महाराज ! ये रामजी आपसे ही बातें करते हैं, हमसे तो कभी नहीं बोलते ! हमें भी बताओ, वे आपसे कैसे बातें करते हैं ? क्या आपसे रामजी ने स्वयं कहा है कि तुम मन्दिर से निकल जाओ ?" महाराज जी ने कहा—"अरे एँरे भैया, सन्त के रूप में साक्षात् धनुषधारी राम विराजमान हैं । उन्हीं की आज्ञा है ।" सुघरसिंह बड़ा चतुर भक्त था । वह समझ गया कि यह दूँदनाक बाबा की लीला है । मन्दिर में वह उन्हीं के पास पहुँचा । दूँदनाक बाबा से कहने लगा—"बाबा, तुम साधु हो ? देखो, रामायण बाँच रहे थे, रामायण भींग गयी । वे महात्मा पानी में भींग रहे हैं । पानी बरस रहा है । तुमने उन्हें मन्दिर से अलग कर दिया है । तुम्हें दया नहीं आती ?" दूँदनाक की कुछ समझ में बात आ गयी तो बोले—अच्छा तो उन्हें बुला लाओ । सुघरसिंह बोले—'मेरे कहने से वह नहीं आयेंगे । आपने निकाला है, उन्हें आप ही बुला लाइये ।' दूँदनाक बाबा महाराज जी के पास गये और कहने लगे—'चल, अब मन्दिर में चल ।'महाराज जी बोले—"धनुषधारी भगवान् ! आपने तो वहाँ से अलग किया है ?" दपट कर बोले—"अरे तो हमीं आज्ञा दे रहे हैं, जा अब मन्दिर में रह । वह तुझी को दिया ।" यह कहकर महाराज जी का हाथ पकड़ के उन्हें मन्दिर में लिवा गये । स्वयं मन्दिर से हट गये किन्तु उनकी विचित्र आदतें नहीं गयी । एक बार 'खैरवाहे' का एक भक्त स्थान पर आया । उसके कानों में सोने के चौकड़ा थे । आपने उससे पूछा—"यह चौकड़े किसके हैं ?" "महाराज ! आपके ही हैं—'भक्त ने सहज भाव से उत्तर दिया । जैसे ही उसने कहा कि ये आपके हैं, तैसे ही दूँदनाक बाबा बोले—हमारा है तो इसे उतार, हमें दे' ! भक्त सिटपिटाया, पर बेचारे ने उतार दिया । इसी प्रकार एक दिन

घनेले ग्राम में घूम रहे थे तो एक बढ़िया सी गाय को देखा तो पूछा—"यह किसकी गाय है ?" गाय वाले भक्त ने शिष्टाचार के अनुसार उत्तर दिया—'महाराज यह आपकी है ।' इतना सुनना था कि दूँदनाक बोले—'गाय हमारी है तो तू इसे क्यों लिये जा रहा है ? लाओ हम अपनी गाय ले जायें ।' यह कहके उसकी गाय हाँक ली और किसी दूसरे को दे दिया । तब से लोग समझ गये और उनके पूछने पर कोई नहीं कहता था कि 'यह तुम्हारी है' । दूँदनाक बाबा बहुत दिनों तक गाँवों में घूमते रहे । सब जगह 'दूँदनन' किया करते पर अब लोग उस 'दूँदनन' के धोके में नहीं आते थे । अन्त में मुरेना जाकर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया ।

दूँदनाक बाबा के समय तक श्री महाराज जी के पास एक-दो सन्त ही रहते थे । आरम्भ में खिराबली वाले बाबा महाराज थे, उसके पश्चात् श्री छोटे महाराज जी पहुँच गये थे । गाँवों के भक्त लोग अवश्य आया-जाया करते थे । धीरे-धीरे सन्त एकत्र होने लगे । जैसे-जैसे फूल की सुगन्ध बिखरी, तैसे-तैसे भँवरे आने लगे !

हरलाल भगत

कासमखेरे के समीप एक 'खारे' गाँव है । हरलाल भगत वहीं का था । एक बार बड़े महाराज जी के दर्शनार्थ आया तो वहीं रम गया । रमता क्यों नहीं ? जितने सिर-फिरे लोग होते थे उन्हें वहाँ—जैसी सुविधा कहीं नहीं मिलती थी । गाँवों के लोग भी ऐसे लोगों को वहीं भेज देते थे । हरलाल भी सिड़ी था, काला कलूटा, लाल-लाल आँखें और विशालकाय; बिलकुल पिशाच-जैसा प्रतीत होता था । जब तब अपनी झोंक में आके कहता—क्या भाव ? वही भाव ! दिल्ली है, बम्बई है, कलकत्ता है । वैसे वह समझ की बातें करता । हां, जब पागलपन में आता तो दो-दो मन के पत्थर उठाकर बरगद के नीचे डाला करता था । बरगद के नीचे बना हुआ पत्थरों का चबूतरा उसके

पागलपन का ही सुन्दर परिणाम है। बड़े महाराज जी उसे 'सिर्री भगवान' कहते थे। एक बार की बात है। 'टिकटौली' के ठाकुर पहलवानसिंह पूज्य महाराज जी के दर्शन करने आये। उनके पास जो आता वह या तो कीर्तन करता या फिर रामायण बांचता। पहलवान सिंह ने रामायण बांची। इसके पश्चात् पूज्य श्री महाराज जी जिस पटिया पर बैठते थे इसी पर थोड़ा लेट गये। सिड़ी हरलाल अचानक महाराज जी की पटिया पर चढ़ गया और उनकी छाती पर जा बैठा। महाराज जी के चूतरों पर कोंच-कोंच कर मारने लगा और ऐसे किटकारी मारने लगा जैसे कोई 'किट-किट' करके बैलों को हाँकता है। जोश में भरके कहता भी जाता था कि 'अरे बैरी, तुझे नरसिंह-शिला पर काट-काट के फेंकूँगा। तू बैसे नहीं मानेगा'। ठाकुर पहलवानसिंह भला यह कैसे सह सकते थे। वह बेंत लेकर हरलाल को मारने दौड़े, तो महाराज जी हँसकर बोले—'अरे भगत ! ये तो—सिरी भगवान हैं ये तो हमारे बड़े प्रेमी हैं, आपने रामायण की कथा कही है अतः इन्हें हनुमान जी का आवेश आ गया है। ये हनुमान जी की लीला करते हैं।" हरलाल सिड़ी तब तक दूर भाग गया। महाराज जी हँसते रहे।

कलुआ भगत

चंदपुरा का कलुआ पागल करह के सिर्री भगवानों की परम्परा में तृतीय था। वह पढ़ा-लिखा था। हनुमान जी के मन्दिर के ऊपर रहता था। वहीं वासी-कूसी रोटियों के तमाम टुकड़े इकट्ठे रखता था। दिन भर रामायण पढ़ता, रात भर रामायण पढ़ता। जब तरंग आती तो एक पैर से लँगड़ी भर-भरके हनुमान जी की परिक्रमा किया करता था। महीनों सोता नहीं था इसलिए उसकी आँखें हमेशा लाल रहती थीं। दूसरे लोग उसे पागल कहते, महाराज जी की दृष्टि में तो वे भगवान थे। बहुत-से भक्त पूज्य महाराज जी के पास विविध

प्रकार की कामनाएँ लेकर पहुँचते थे तो महाराज जी कहते—'भैया ! वे सिर्री भगवान जानें उनके पास जाओ। उन्हीं से कहो'। लोग अपनी कामनाएँ उनसे प्रकट करते। कलुआ भगत किसी पर प्रसन्न हो जाते तो कह देते—'जा तेरा काम बन जायगा।' किसी से बिलकुल बोलते ही नहीं थे फिर चाहे वह कितनी ही विनती करे। लोगों ने यह प्रत्यक्ष अनुभव बताया कि जिस पर कलुआ प्रसन्न हो जायें उसका काम सिद्ध हो जाता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सिद्धाई का स्रोत अन्यत्र था।

गोविन्ददास

बड़े महाराज जी का एक शिष्य था। नाम था गोविन्ददास। पर ऐसा बिलक्षण शिष्य था कि उसका उदाहरण ढूंढ़ने पर भी शायद ही मिले। करह के पास एक पहाड़ी गाँव है। वह वहीं रहता था। एक दिन वह महाराज जी के पास आया। बड़े महाराज जी पटिया पर बैठे थे। जाकर सामने खड़ा हो गया, न दण्डवत् न नमस्कार ! बड़े जोश में बोला—'मैं गवालियर महाराज के यहाँ आपकी दरख्वास्त दूंगा कि तुमने मुझे चेला बनाकर मेरा घर चौपट कर दिया। न जाने मुझे कैसा थोथा मन्त्र दे दिया है कि उससे कुछ भी फायदा नहीं होता। तुमने लखनदास को चेला बनाया है, रामदास को चेला बनाया है, वे दोनों खूब मौज उड़ा रहे हैं। कहीं सप्ताह कराते हैं, कहीं कीर्तन कराते हैं। कहीं यज्ञ कराते हैं। और एक हम चेला हैं कि हमें कोई पूछता नहीं ?" इस अनोखे शिष्य की अनोखी बातों को सुनकर बड़े महाराज जी हँसने लगे। बड़े महाराज जी को हँसते देखकर—स्वर को तार सप्तक में चढ़ाता हुआ बोला—हँस क्या रहे हो ? बैरी, तो पै ऐसी गुस्सा आती है कि तुझे पटिया के नीचे पटक कर छाती में दो लातें लगाऊं" इतना उसका कहना था कि बड़े महाराज जी खूब खिलखिला के हँसने लगे लेकिन दूसरे साधु

किट-किटाकर गोविन्ददास को मारने दौड़े, तो महाराज ने रोककर कहा—'अरे भैया मारो मत ! साधु है हमारा तो बड़ा प्रेमी है । आज कुछ हनुमान जी के आवेश में हैं । वही लीला कर रहे हैं ।' तब कोई कहता—'अरे महाराज जी, हनुमान जी कहीं सन्तों के लात नहीं मारा करते ।' महाराज जी हँस के रह जाते । उससे पूछते—'अरे गोविन्ददास ! तुझे क्या चाहिए ? गोविन्ददास पहले तो डर गये थे लेकिन महाराजजी का रुख पाकर बोले—न हमारे पास बिछौना है, न थाली है, न आटा दाल है । बताओ हम क्या करें ? उस समय पूज्य बड़े महाराज जी के शरीर पर केवल एक ही वस्त्र था । वे उतना ही रखते थे । द्रवीभूत होकर गोविन्ददास को दे दिया और छोटे महाराज जी को आदेश दिया—'भैया गोविन्ददास को यहाँ से सब चीज दे दो। हर सप्ताह पाँच सेर आटा ले जाया करे' । गोविन्ददास थाली लोटा आटा-सामान लेकर चलते बने । धन्य हैं ऐसे अनूठे गुरु और धन्य हैं ऐसे अनूठे शिष्य !

धुन्धकारी

पूज्य महाराज जी की सेवा में रहकर नाम पाने वाले सिड़ियों में धुन्धकारी ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की । धुन्धकारी पहाड़ी ग्राम का एक ब्राह्मण था । दिमाग ठीक न होने के कारण वहाँ वह वैसे ही घूमा करता था । फटा कुरता, फटी धोती, न खाने की सुध न पीने की । कुछ पढ़ा लिखा भी था जब तब रामायण की शुद्ध अशुद्ध चौपाइयां कह दिया करता था । चौपाइयों में आधी चौपाई रामायण की होती, आधी अपने मन से जोड़ दिया करते और इस तरह घंटों जोड़-जोड़कर चौपाइयां कहा करते थे । सब लोग उसे पागल कहते थे किन्तु करह पर आकर वह धुन्धकारी भगवान—के नाम से प्रसिद्ध हो गया । बड़े महाराज जी का दरबार ही विचित्र था । यहाँ अनगढ़ वेषभूषा वाले, बे ठिकाने की बातें करने वाले लोग, अधिक सम्मान्य बन जाते थे । इसका कारण पूज्य महाराज जी की कृपा थी । वे जब किसी

पागल को, लूले लँगड़े को तथा अन्धे अपाहिज को आश्रम में आया हुआ देखते तो उसे भगवान की पदवी से विभूषित कर देते थे । सचमुच यह एक उच्च सिद्धान्त का व्यवहारीकरण था । भगवान सेव्य हैं यह सिद्धान्त सभी आस्तिकों को मान्य है और सम्पूर्ण विश्व भगवान का ही रूप है, यह भी श्रुतिप्रतिपादित मान्यता है, पर विश्व में जो समर्थ हैं योग्य हैं, शिक्षित हैं, उन्हें सेवा की अपेक्षा नहीं है । सेवा की अपेक्षा ऐसे लोगों को है जो किसी भी कारण से न समाज-सेवा कर सकते हैं न स्वयं का भरण-पोषण । विश्वरूप भगवान का यही अंश वस्तुतः सेव्य है, और चूँकि सेव्य है अतः वह भगवान है । पूज्य बड़े महाराज जी की ऐसी दृष्टि थी । इस भाव के कारण ऐसे लोगों की ओर सब का ध्यान जाता । उन्हें भोजनादि की व्यवस्था के लिये दुःखी नहीं होना पड़ता, लोग उनका आदर करते और अन्त में पूज्य महाराज जी की उन पर ऐसी कृपा दृष्टि होती थी कि उनके द्वारा बड़ी सफल भविष्य वाणियां होने लगती थीं । धुन्धकारी भी इसके अपवाद नहीं थे । उनके रंग ढंग देखकर बड़े महाराज जी ने कहा—'अरे भैया धुन्धकारी भगवान आ गये ! महाराज जी का कहना था कि सभी साधु, सभी भगत उन्हें 'धुन्धकारी भगवान् कहने लगे ।

धुन्धकारी जंगल में घूमने निकल जाता और शाम को भोजन के समय आता । कभी-कभी दो-दो, तीन-तीन दिन तक जंगल में ही घूमा करता था । खाने-पीने का कोई ध्यान न था । करह के आस-पास दिन में भी सिंह मिल सकते हैं । ऐसा जंगल है । पर धुन्धकारी को शेरों का कुछ भी भय नहीं था यहाँ तक सिंह दिखाई दे जाता तो उसके पीछे दौड़ने लगता था, उनकेपास जा बैठता । धीरे-धीरे धुन्धकारी की ख्याति बढ़ने लगी । लोग धुन्धकारी के दर्शनों के लिये उत्सुक रहते थे । कई बार भोजन में अच्छे पदार्थ बनते थे । धुन्धकारी शाम को जंगल से लौटते थे और तब तक खीर, पूड़ी या और कोई पकवान चुक जाता था, तो धुन्धकारी को जैसे सब मालूम हो जाता ।

वह जंगल से आते ही कहने लगता 'तुम सब स्वयं खीर खा जाते हो और मेरे लिए रोटियां रखते हो ? तुम साधु क्यों हो गये ? इससे तो घर ही अच्छा था, तुमको नरक मिलेगा। तब पता लगेगा'' आदि आदि बातें कह डालते थे, तब से आश्रम में कुछ भी बनता उसमें धुन्धकारी के लिये अवश्य रक्खा जाता और किसी को मिले या न मिले। एक बार की बात है। जाड़े के दिन थे। बड़े महाराज जी रजाई ओढ़े पटिया पर बैठे थे। इतने में ही चक्कर लगाते हुए कहीं से धुन्धकारी भगवान आ पहुँचे। महाराज जी की ओर देखकर बोले— 'तुम साधु होकर रजाई ओढ़ते हो ? जो रजाई ओढ़ता है उसे भगवान नहीं मिलते।'' इतना सुनते ही बड़े महाराज जी ने रजाई उतार दी। भक्तों ने बड़ा प्रयत्न किया, पर उन्होंने नहीं ओढ़ा। छोटे महाराज जी के आग्रह करने पर कहा -'अरे भैया, धुन्धकारी भगवान ने कहा है कि रजाई ओढ़ने वाले को भगवान नहीं मिलते, 'तो भैया, रजाई के पीछे हम भगवान को कैसे छोड़ दें ?' एक बार धुन्धकारी ने कह दिया कि रोटी खाने से भगवान नहीं मिलेंगे तो पूज्य महाराज जी ने दो वर्ष तक रोटियां नहीं खाईं। इसी तरह धुन्धकारी भगवान की विचित्र बातें होती रहती थीं। एक बार पूज्य महाराज जी के मन में प्रभु की ऐसी प्रेरणा हुई कि गंगा सागर के पास तालाब की 'पारि' बँधनी चाहिए। उन्होंने छोटे महाराज जी से कहा। छोटे महाराज जी तो उनकी थोड़ी-सी इच्छा का पालन भी ईश्वरीय आदेश की तरह करते थे। उन्होने तत्काल सब सामान एकत्र कराया। मजदूर आ गये दूसरे दिन प्रातः से कार्यारम्भ होने वाला था कि सायंकाल कहीं से घूमते-फिरते धुन्धकारी भगवान आ पहुँचे। मनीराम दास पुजारी ने पूछा—भगवान् ! तालाब की 'पारि' बन रही है। आपकी आज्ञा है न ? वे बोले—'हमारी आज्ञा नहीं है।' मनीरामदास ने पुनः पूछा—आखिर आप कौन हैं जो कि आज्ञा दे रहे हैं ? धुन्धकारी बोले-'हम धनुषधारीराम है, हम कहते हैं। कि ताल की पार बनाना हो तो हमारे भरोसे न बनाना।'' फिर क्या था, कार्यक्रम

स्थगित हो गया। बड़े महाराज जी बोले—भैया ! अब पार नहीं बनेगी' छोटे महाराजजी बोले—आपने तो कहा था कि ऐसी प्रेरणा हुई है ? महाराज जी बोले—भैया, पहले की आज्ञा देवताओं की थी पर यह आज्ञा तो रामजी दे रहे हैं।'' पश्चात् श्री छोटे महाराज जी ने पारि के लिए एकत्र की गयी सामग्री से कीर्तन भवन का निर्माण कराया। हमारी समझ से कीर्तन-भवन भी एक पुल ही था—'नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भव सागर तरहिं, उस नाम कीर्तन का वह साधन था। आगे चलकर उसी कीर्तन-भवन में चार महीने का अखंड कीर्तन हुआ था।

सवाई भगवान्

सवाई नन्दे के पुरा के रहने वाले एक किरार के बालक हैं। पहले ये बड़े विनयी एवं साधु सेवी थे। रामनाम कीर्तन के बड़े अनुरागी थे। छोटे महाराज जी जब कभी जाते तो दिन-दिन भर दौड़-दौड़ कर सेवा करते थे। कुछ दिनों के पश्चात इनकी साधना अन्तर्मुखी हो गयी। फलतः इनका बाह्य आचरण लोक विलक्षण हो गया। उस समय ये बड़े महाराज जी की शरण में आए। विचित्र वेषभूषा, विचित्र बचनावली और विचित्र रहनी थी इनकी। नग्न रूप,नंगे सिर, नंगे पैर रहते। कभी नंगी तलवार बगल में लटकती, कभी पीठ पर लालटेन टंगी रहती, कभी गले में भैंस का सींग बंधा रहता तो कभी इससे भी विलक्षण वेषभूषा होती थी ! कभी-कभी इनका अपने ही प्रति इतना रोमांचकारी व्यवहार होता था कि उनकी ओर देखना कठिन था। हमने अपने जीवन में ऐसे किसी भी साधक को न देखा न उसके बारे में सुना जिसने अपने शरीर को इतना प्रचण्ड दण्ड दिया हो, वह भी हंस-हंसके ! सवाई जलता हुआ कण्डा अपने सिर पर रख लेता, सारे बाल जल जाते, चाँद की चमड़ी जलने लगती और वे हंसते रहते ! तब कोई दूसरा उस कंडे को उनके सिर से हटाता था। कभी जलते हुए अंगारे को उठाकर मुँह में धर के कर-कर खाने लगते

थे। कहीं बरों का ततैयों का छत्ता लगा रहता, उसे जान बूझकर छेड़ते और उनसे अपने शरीर को खूब कटा लेते थे। इस प्रकार वे अपने आपको कठोर दंड देते रहते जिसे देखकर दूसरे लोगों के हृदय काँप जाते थे।

सवाई रोटी के भूँठे, सड़े गले-टुकड़े खूब इकट्ठे रखते थे। एक बार वह एक रोटी का टुकड़ा लिए हुए बड़े महाराज जी के पास आये और कहने लगे—लो खालो।' उन दिनों महाराज जी ने रोटी खाना छोड़ दिया था क्योंकि धुन्धकारी भगवान ने कह दिया कि रोटी खाने से भगवान नहीं मिलते। तब से रोटी छोड़े महाराज जी को लगभग दो वर्ष हो गये थे। सवाई भगवान पहुँचे और रोटी का टुकड़ा महाराज जी की तरफ कर दिया तथा कहा—खा भी लो। अरे हिला खालो, यों कह के जबरदस्ती महाराज जी के मुँह में रोटी का टुकड़ा लगा दिया, और तबसे महाराज जी ने प्रभु की प्रेरणा समझकर रोटी खाना शुरू कर दिया।

भक्त लोग जब बड़े महाराज जी से अपना कुछ कष्ट सुनाने पहुँचते तो महाराज जी उन्हें सवाई के पास भेजदेते सवाई के मन पर आजाती तो कुछ कह भी देते थे। एक बार की बात है, पूरा आषाढ़ बीत गया। सावन का महीना लग गया, किन्तु पानी नहीं बरसा। बेनेले गांव के लोग मिलकर पूज्य बड़े महाराज जी के समीप आये और उन्होंने वर्षा के लिये प्रार्थना की तो महाराज जी ने कहा—'हम तो कुछ जानते नहीं, सवाई भगवान् से विनय करो, वही कुछ कर सकते हैं।" सवाई समीप ही बैठे थे। सब लोगों ने उनके 'चरण पकड़ लिये तो बोले—'पानी हमारे पास बहुत भरा है, जितना कहो उतना बरसादें, पर तुम लोग कुछ दान पुण्य तो करते नहीं हो, पानी कैसे बरसे ?" सब लोगों ने हाथ जोड़ के कहा—'जो आपकी आज्ञा हो, वह दान पुण्य करें, सवाई बोले—'यहाँ प्रतिवर्ष सिद्धबाबा के नाम से भण्डारा किया करो, एक दिन की अखण्ड नाम ध्वनि किया करो तो अभी पानी ही पानी बरसादें। सबने स्वीकार कर लिया और वे आज्ञा

लेकर चल पड़े। वे थोड़ी-ही दूर गये होंगे कि गगनमें घन घटाएँ उमड़ घुमड़ आई और खूब पानी पड़ा। तब से वह भण्डारा और एक दिन की नामध्वनि अब तक होती आरही है।

इस प्रकार दूसरों के मुख से विशेषत: सिद्धी लोगों के द्वारा बड़े महाराज जी बड़ी-बड़ी अद्भुत बातें कह दिया करते थे वे स्वयं अपने मुख से कभी कोई भविष्य वाणी नहीं करते थे। लोक प्रतिष्ठा की गन्ध का लेश भी उनमे नहीं था। पलटू साहब ने अपनी बानी में ठीक ही कहा है—

"आगम कहें न संत भड़ेरिया कहत हैं,
सन्त न औषध देहिं बैद यह करत हैं।
झार फूँक तावीज ओझा को काम है,
अरे हां रे 'पलटू संत रहित पर पंच राम को नाम है।"

कोढ़ी की सेवा

दासवत् सन्नतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सला।
भ्रातृवत् सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः।

—भाग० ७।४।

"अर्थ भक्त प्रहलाद बड़ों के चरणों में दासवत् प्रणत होते दीनों के प्रति पितृतुल्य दयावान् रहते, समान के प्रति भ्रातृतुल्य स्नेहपूर्ण थे और गुरूजनों को ईश्वर सदृश मानते थे।"

निष्प्रपंच सन्तों की दृष्टि अत्यन्त सुलझी हुई होती है। व्याधि-पीड़ित, विरूप शरीर के प्रति न उनके मन में घृणा होती है न मनोरम काया के प्रति उनके मन में मोह का बन्धन। वे तो शरीर की अँगूठी में जड़े हुए रामरत्न के कारण ही काञ्च की काया को कंचन की मानते हैं। उनकी दृष्टि में मूल्य तो रामरत्न का है। वे उसी रत्न के पारखी होते हैं। बल्कि दूषित शरीर वाले प्राणी उनके लिये अधिक आदरणीय होते हैं क्योंकि प्रभु के ऐसे रूप समाज में घृणास्पद

एवं अस्वास्थ्यप्रद होने के कारण उपेक्षित तथा तिरस्कृत होते हैं अतः वे अनाघ्रात पुष्प की भाँति सेवा के अछूते पात्र होते हैं। ऐसों की सेवा मानों उन्हीं के बाँट आती है। पूज्य श्री महाराज जी के आश्रम में एक ऐसा ही प्राणी आया। उसके अङ्ग-अङ्ग में गलित कुष्ठ था। हाथ पैरों की अँगुलियाँ गलकर ठूँठी हो चुकी थीं। शरीर से बदबू आती थी। सिवा मक्खियों के उसके पास कोई नहीं जाता था। करह पर और भी कई साधु थे। किसी ने भी उसे अपने पास नहीं बैठने दिया। बैठने भी कोई कैसे देता? रूप को विकृत, शरीर को पीड़ित करने वाला एवं समाज में प्रचंड पापों का प्रतिफल मान्य होने के कारण सर्वतः लांछित करने वाला कोढ़ जैसा भयानक रोग दूसरा कौन हो सकता है? सिद्धान्ततः सब में भगवान मानने वालों में भी आचरण में उस सिद्धान्त को उतारने वाले कोई विरले ही होते हैं। मानों इस बात की कसौटी बनकर ही महाराज जी के पास वह कोढ़ी जा पहुँचा। महाराज जी ने उसके मक्खियों से भिनकते शरीर पर हाथ फेरते हुए कहा—'आओ भगवान! तुम हमारे पास आओ' वह बड़ी प्रसन्नता से समीप जा बैठा। ऐसे कृपापूर्ण कर-कमल का स्पर्श उसे कहाँ प्राप्त होता? महाराज जी ने एक गलित कोढ़ी को अपने पास बिठा रक्खा है, यह बात भक्तों एवं साधुओं को बहुत ही बुरी लगी। पर वहाँ कहने का साहस किसे होता है। सब ने मिलकर छोटे महाराज जी से कहा कि बड़े महाराज जी कोढ़ी को पास बिठाते हैं यह रोग संक्रामक होता है। उसे आप महाराज जी के पास से दूर हटादें।" छोटे महाराज जी ने जाकर बड़े महाराज जी से प्रार्थना की, तो बड़ी सरलता से बोले—'भैया भगवान जाने किस वेष में आते हैं। पता नहीं कोढ़ी के रूप में ही वे आये हों! कोई साधु उन्हें अपने पास बैठने देता नहीं तो हम कैसे उन्हें अपने पास से हटा दें'? छोटे महाराज जी ने उस कोढ़ी के लिये तत्काल एक कुटिया बनवादी। वह मतोला की कुटिया के नाम से प्रसिद्ध हुई क्योंकि उस कुष्ठी का नाम मतोला था। मतोला बड़े महाराज जी के स्नान किये हुए जल में

लेटता, नहाता और उसी को पीता था। थोड़े ही दिनों में उसका कोढ़ चूना बन्द हो गया। धीरे-धीरे शरीर का सारा कोढ़ चला गया। वह साधु बनकर भजन करने लगा। समय पाकर जब उसका शरीर शान्त हुआ तो उसकी अस्थियाँ गंगा पहुँचायीं और उसके लिये भण्डारा किया गया। पूज्य बड़े महाराज जी का एक नियम सा हो गया था कि किसी का भी शरीर छूटता, उसकी अस्थियाँ गंगाजी में अवश्य पहुँचाते,—उसके लिये भंडारा करते और मृत्यु के अवसर पर एक गाय का दान करते थे। यह सम्मान केवल मनुष्यों को ही नहीं, कुत्ते बिल्ली तक को प्रदान करते थे। ठीक जन्माष्टमी के दिन शरीर छोड़ने वाली, आश्रम की गंगा गाय का भी वैसा ही सम्मान किया था। उसके नाम पर समाधि बनी। गो मूर्ति स्थापित की गयी।

एक साधु तीर्थ यात्रा से लौटा। मार्ग में बीमार पड़ गया। नूराबाद आकर उसका शरीर नहीं रहा। तीन चार दिन पश्चात् बड़े महाराज जी को इस बात का पता लगा। उसके लिये भण्डारा कराया। उसकी अस्थियाँ गंगाजी में भिजवादी। पर मृत्यु के समय उसके हाथ से गो दान नहीं हो सका था। अतः पूज्य बड़े महाराज जी के मन में बड़ा विचार उठा कि उसके लिये गो दान नहीं हुआ। छोटे महाराज जी से बोले—एँ रे भैया, क्या उसके लिये अब गो दान नहीं हो सकता? छोटे महाराज जी ने कहा—'महाराज जी, गो दान तो मृत्यु के पहले उसी के हाथ से कराया जाता है। बड़े महाराज जी ने कहा—'अरे भैया, ऐसा कहते हैं कि १३ दिन तक जीव यहीं रहता है; इसलिये गो दान तो लग सकता है! छोटे महाराज जी ने कहा—'हाँ, महा राज जी ठीक है, जैसी आपकी आज्ञा। इस समय ही गो दान कर दिया जायगा'। उसके लिये गो दान किया गया। एक कुत्ता मरणासन्न था। तड़प रहा था। महाराज जी समीप जा बैठे। तीन दिन से उसके प्राण नहीं निकल रहे थे। महाराज जी ने प्रभु से प्रार्थना कि आज हमने जो कुछ राम नाम लिया, रामायण सुनी है, गीता सुनी है, वह सब इन्हीं विट्ठल भगवान को समर्पित करते हैं। इसका सुखपूर्वक

शरीर छूट जाय, इतना कहना था कि कुत्ता चरणों में सिर रखकर देह-मुक्त हो गया। महाराज जी ने उसका भण्डारा कराया। यह थी करुणा! एक कुत्ता की पीड़ा को भी नहीं सह सकते थे!

मातृ भक्ति

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव।
तैत्तिरीय० ११ अनुवाक

"माता को देवतुल्य मानो, पिता को देवतुल्य मानो, आचार्य को देवतुल्य मानो।" यह उपदेश आचार्य ने स्नातक शिष्य को दिया है। इसमें सर्वप्रथम स्थान माँ का है। मनुस्मृति में कहा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।

"आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति है, पिता प्रजापति की मूर्ति है। भ्राता अपनी ही मूर्ति है किन्तु माता तो समस्त वसुन्धरा की मूर्ति है'।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।

'सन्तान की उत्पत्ति में माता पिता (विशेषतः माता) जो क्लेश सहते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षों की सेवा द्वारा भी नहीं चुकाया जा सकता'। इस सम्बन्ध में पिता से माता का गौरव अधिक है। पूज्य बड़े महाराज जी के जीवन पर तो माता की अधिक छाप पड़ी, क्योंकि इनके पिता बिलकुल बचपन की अबोध दशा में ही छोड़ गये थे। पिता का सुख इन्हें देखने को नहीं मिला। माता ने ही पाला पोसा अतः इन्हें मां का असीम एवं निश्छल स्नेह, उनका करुणापूर्ण हृदय ही देखने को मिला। इसलिये ये फूलों में ही पले, काँटों से ये अपरिचित रहे। यही कारण है कि पूज्य महाराज जी का रोम-रोम करुणापूर्ण था। उनका रहन-सहन, बोलना, बात करना, मुसकाना, चलना फिरना सब कुछ स्नेह के साँचे में ढला था। मातृ-हृदय-जैसी

सम्पत्ति के सच्चे उत्तराधिकारी थे। पर माता का हृदय अपनी सन्तान के प्रति ही प्रेमाकुल होता है, किन्तु इनका हृदय तो सारे विश्व के प्रति स्नेहाकुल था। एक सच्चे सपूत की यह सच्ची मातृ सेवा है।

माता विजयकुँवरि का इन पर बड़ा दुलार था। एक क्षण के लिये इनका अलग होना उन्हें सह्य नहीं था। महाराज जी जब सब कुछ छोड़कर 'टेकरी' पर चले गये तो वहाँ भी अपने प्रिय पुत्र के लिये भोजन लेकर पहुँचती थीं। पुत्र चाहे जितना बड़ा हो जाय, वह चाहे दो चार बच्चों का बाप भी बन जाय फिर भी माता के लिये वह दुधमुँहा ही रहता है। उसकी चिन्ता तो उसे सदा लगी ही रहती है। यह भी अपने रतना की सदा चिन्ता रखती थीं। यद्यपि उस समय पूज्य बड़े महाराज जी रतना न होकर बाबा महाराज हो गये थे। उनके लिये भिक्षा की कमी नहीं थी। पर इससे क्या? मां जब तक अपने हाथ से बनाके न खिलावेगी तो कैसे सन्तोष होगा? महाराज जी के पास जैसे ही माँ पहुँचती, वे आसन से उठ पड़ते थे। माँ का यह आदर उस समय भी किया जब चारों ओर उनकी कीर्ति बिखरने लगी थी। और करह वाले बाबा के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। माँ का शरीरान्त हो गया। उनकी मृत्यु के दो दिन पश्चात् बड़े महाराज जी के पास सूचना पहुँची। महाराज जी सजल हो गये। उन्होंने कहा—'हम ऐसे पुत्र निकले कि मां के दाह संस्कार में भी सम्मिलित न हुए परन्तु आज हम प्रभु की साक्षी देकर कह रहे हैं कि आज तक हमने जो कुछ भजन किया है, प्रभु का स्मरण किया है, वह सब हम अपनी मां को सौंपते हैं"। मेरे पास केवल राम नाम की कमाई है। प्रभु से प्रार्थना कि यह सब मेरी दयामयी माँ को प्राप्त हो। इस प्रकार अपने जीवन की सम्पूर्ण साधना अपनी माता के चरणों में अर्पित करदी। धन्य है वह माता और धन्य है ऐसा पुत्र!

दयालुता

नीतं यदि नवनीतं नीतं-नीतं किमेतेन
आतपतापितभूमौ माधव! माधाव, माधाव।

अर्थ—हे माधव ! यदि तुमने नवनीत चुरा लिया तो चुरा लिया। इससे कोई हानि नहीं, पर धूप से तपी धरती पर माधव ! तुम मत दौड़ो, मत दौड़ो'।

तुलसीदास जी ने लिखा है कि जब श्रीराघव वन में निवास करने लगे तो वन मंगलमय ही नहीं हुआ, मंगलदायक भी हो गया।

जब ते आइ रहे रघुनायक
तब ते भा बन मंगलदायक।

सन्त तो प्रभु के रूप ही होते हैं। पूज्य बड़े महाराज जीने करह की खोह में निवास किया तो भयानक हिंस्र जन्तुओं का आवास भी वह स्थान रामनाम की दिव्य ध्वनि से गूंज उठा। वहां टूटा मन्दिर पड़ा था। श्री महाराज जी के पहुचने के पहले ही वहां की मूर्तियां धनेले के मन्दिर पर पहुँच गयीं थी अतः उस मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ। उसमें मूर्ति पधराई गयी। उत्सव किया गया। भण्डारा हुआ मन्दिर की सेवा-पूजा में कुतवार ग्राम के पं० श्री ब्रजकिशोर जी को रक्खा गया। महाराजजी की सन्निधि में रहने का तथा श्री ठाकुर जी की सेवा का उन्हें बड़ा सौभाग्य प्राप्त हुआ वे बड़े पुजारी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। पूज्य बड़े महाराजजी के बड़े कृपापात्र रहे।

यह सब होने पर भी वहां भीड़भाड़ विशेष नहीं थी। थोड़े से इने गिने साधक रहते थे। गांव वाले लोग भादों के महीने में जन्माष्टमी के अवसर पर वहां आते और प्रातः चले जाते थे। ऐसा भी होता था कि किसी साल वर्षा ऋतु में ठीक से जल वृष्टि नहीं होती तो लोग मिल कर बड़े महाराज जी की सेवा में पहुँचते थे। शेष महीनों में शान्ति छाई रहती थी। साधना का वातावरण रहता था। एक बार जन्माष्टमी का उत्सव हुआ। भगवान को सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनाये गये। मनोहर झांकी सजी। भक्तों ने रात भर जाग कर भक्ति भावना का परिचय दिया। प्रसाद लेकर भक्त लोग प्रातः अपने-अपने घर चले गये। दूसरे दिन आधी रात के पश्चात् जब चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। पुजारी

मन्दिर की छत पर सुषुप्ति का आनन्द लेरहा था। भादों की अँधेरी रात थी। ऐसे उपयुक्त समय में चोरने करह पर प्रवेश किया। दबे पैरों आकर मन्दिर के सम्मुख आखड़ा हुआ। समीप में पत्थर के खम्भे पर शीशे के झरोखे से केवल दीपक झांक रहा था। उसी के मन्द प्रकाश में उसने इधर उधर दृष्टि दौड़ाई। पटिया पर महाराज जी विश्राम करते थे। उस पर मटमैले रङ्ग की मच्छरदानी किसी ने लगा दी थी, क्योंकि वर्षा में करह पर बड़ी-बड़ी सूंड वाले वेहद मच्छर हो जाते हैं। पूज्य बड़े महाराज जी उस समय उसी मच्छर-दानी के अन्दर बैठे भजन कर रहे थे। जो राम के सच्चे पुजारी हैं उनके नयनों में नींद कहां ? और ठीक भी है—'यह जग जामिनि जागहिं जोगी। पर चोर को यह कुछ भी मालुम न हुआ। वह तो उन्हें सोया हुआ जान कर मन्दिर के मुख्य द्वार पर गया और उसने ताला तोड़ दिया। महाराज जी झिल मिले परदे के अन्दर से यह सब देख रहे थे, पर उन्हें कोई नहीं देख रहा था। तत्व की बात भी यही है। सन्त सब को देखते हैं,-समझते हैं पर उन्हें देखने-समझने वाला कौन हो सकता है ? चोर मन्दिर के अन्दर गया। भगवान के किरीट-मुकुट, गहने उतारे और तो और चांदी के धनुष-बाण भगवान के हाथों से छीन लिये, ! कुछ चाँदी की मूर्तियां थीं, उन्हें भी उठालिया। भोग लगाने के लिये प्रसाद से भरा कटोरदान रक्खा था उसे भी ले लिया। उसके पश्चात् भगवान के सारे बर्तन उठा लिये। प्रभु के अंगों पर से सम्पूर्ण रेशमी वस्त्र उतार लिये गये और यह सब भगवान देखते रहे ! मानों महाराज जी को वह भी यह बता रहे थे कि जब हमारे भक्त होकर तुम इतने त्यागी हो, निस्पृह हो, तो हम तुमसे पीछे क्यों रहने लगे ? हमें किस वस्तु की कमी है कि तनिक-सी चीज के लिये एक भिखमंगे का हाथ रोकें ? चोर ने भूषण वस्त्र वर्तन सबको समेटा। फिर भण्डारे में घुसा। वहां से भगोना बाल्टी लोटा आदि जो कुछ हाथ लगा सब उठा लाया और मन्दिर

के सामने लगा गठरी बाँधने ! महाराज जी अन्दर ही अन्दर देख के मुसका रहे थे। चोर ने गठरी भारी बाँधी। इतनी भारी कि उसने कई बार प्रयत्न किया किन्तु गठरी न उठी, तो पूज्य महाराज जी मच्छरदानी के अन्दर से बड़े धीमे और प्यार भरे स्वर में बोले—'ए रे भगत ! आधी चीजें लेजा आधी। आधी फिर ले जाना। देर मत कर, अभी साधु जग पड़ेंगे तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाओगे।"

यह आवाज सुनकर पहले तो चोर घबड़ाया पर उसने जब अच्छी तरह से यह विश्वास कर लिया कि कहने वाले बड़े महाराज जी हैं तो वह निर्भय होगया। उसने वही किया जैसे कि वह बड़ा आज्ञाकारी ही था। सामान सिर पर लादा और चल पड़ा परन्तु सामान इतना अधिक था कि फिर भी न चला तो आश्रम से कुछ दूर पर थोड़ी-सी वस्तुएँ डाल गया।

प्रातः काल पुजारी उठा। जैसे ही मन्दिर के सामने आया तो देखा कि मन्दिर का ताला टूटा पड़ा है, किवाड़ खुले पड़े हैं। बात समझते देर न लगी। अन्दर गया, जो आशंका थी वही हो चुका था। बड़े महाराज जी के पास सूचना गयी। समस्त आश्रम में बात फैल गयी। धीरे-धीरे आस पास के गाँवों में भी पता लगा। गाँव वालों ने इस घटना से सन्तों का, भगवान का विशेषतः स्वयं अपना महान् अपमान समझा। उन्होंने चोर का पता लगाया। चोर समीप के एक गाँव का था। उसके सम्बन्ध में करह पर पहले अकेले में पंचायत जुटी। उसमें निर्णय किया कि उसे जाति पाँति से बहिष्कृत कर दिया जाय। वह चोर भी पंचायत में उपस्थित था। उसने जब यह निर्णय सुना तो चुपके उस सभा से खिसक आया और जहाँ बड़े महाराज जी बैठे भजन कर रहे थे वहाँ पहुँचा। दौड़कर चरणों में गिरपड़ा। बोला—'महाराज जी अब मैं ऐसा यहीं क्या, कहीं नहीं करूँगा, मुझे क्षमा कर दीजिये, सब लोग मुझे जाति-पाँति से डाल दे रहे हैं। मेरे लड़कियाँ हैं, उनकी शादी कैसे कर सकूँगा" आदि आदि बातें कहके गिड़ गिड़ाने लगा। महाराज जी बोले—'ए रे भगत ! तू चिन्ता मत

कर, तू जा, पंचायत में जा बैठ।" वह पंचायत में आ बैठा। पंचलोगों ने जो फैसला किया उसे महाराज जी को सुनाने गये। महाराज जी चुपचाप उनका फैसला सुनते रहे। उसके पश्चात् सबसे बोले—'भगतो हमारा कहना तो यह है कि यह चोरी जन्माष्टमी के बाद हुई है। भैया ! किसी राजा महाराजा के यहाँ लड़का उत्पन्न होता है तो उस दिन कैदी छोड़े जाते हैं, आप सबने इसे पकड़ लिया तो यह भी कैदी होगया। नन्द बाबा के यहाँ कृष्ण जी जन्मे हैं तो उसके उपलक्ष में इस कैदी को छोड़ देना ही ठीक है।' लोगों ने कहा—"महाराज जी, इसने केवल सामान ही चुराया होता तो इसे छोड़ा भी जा सकता था पर इसने तो मन्दिर से ठाकुर जी के गहने चुराये हैं, ठाकुर जी के बर्तन चुराये हैं।" महाराज जी ने कहा—'ए रे भगत ! यह बात तो ऐसी है कि नन्द बाबा के घर कृष्ण जी ने जनम लिया तो नन्द जी ने तमाम धन बाँटा था। समझलो, नन्द बाबा और यशोदा मैया के द्वारा लुटाया हुआ धन लूट ले गया है, इसमें दण्ड किस बात का ? लोगों ने कहा—'इस तरह तो यह फिर चोरी करेगा ? महाराज जी बोले—'अब नहीं करेगा, करे तो तुम सब जो चाहो सो दण्ड देना, हम कुछ न कहेंगे" महाराज जी के इस कथन के पश्चात् पंचों ने अपना निर्णय वापस ले लिया। चोर ने चरण पकड़ लिये फिर उसने कभी चोरी नहीं की, न्याय हो तो ऐसा, दंड हो तो ऐसा कि पुनः उसकी गर्हित कार्य में प्रवृत्ति न हो और वह समाज में सम्मानित जीवन व्यतीत कर सके।

मंगन लहें न जिनके नाहीं

अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि,
याचितारश्च नःसन्तु माच याचिष्म कंचन।

—याज्ञवल्क्य

अर्थ—"हे प्रभो ! हमारे बहुत अन्न हो, हमारे घर बहुत अतिथि आवें, बहुत याचक आवें; किन्तु हम किसी से याचना न करें।"

पूज्य श्री महाराज जी तो उदारता की मूर्त्ति थे। वे स्वयं किसी से कुछ भी याचना नहीं करते थे। साधु होने के पूर्व ही उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि हम अपने जीवन में कभी और किसी से कुछ भी नहीं माँगेंगे। उन्होंने इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह किया। करह पर बड़ी-बड़ी यज्ञें हुईं, बड़े-बड़े भण्डारे हुए लेकिन वह किसी से कुछ भी माँगने न गये न किसी से कहा। इससे भी बढ़कर उनका एक और कठिन व्रत था। उनकी आज्ञा थी कि कोई भी साधु अथवा गृहस्थ ऐसा एक भी पैसा न लगावे जो अन्याय का है।" यद्यपि इस युग में इस व्रत का पूरा पालन तो असम्भव था फिर भी पूज्य महाराज जी यथा सम्भव इसका ध्यान रखते थे। बड़े महाराज जी के समीप कई बार दस्युदल की ओर से सन्देश आया कि कुछ द्रव्य हमारी ओर से वहाँ के किसी कार्य में लगाया जाय'। इस पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'अरे भैया, हमारे भगवान् का भोग तो दूध का लगता है, खून का नहीं। हमारे श्री रघुनाथ जी महाराज ने लङ्का जीती पर उसका द्रव्य वे अयोध्या जी नहीं लाये, क्योंकि लङ्का का धन लूट का था।" ऐसी थी उनकी त्यागवृत्ति !

एक बार की घटना है। 'करह' पर एक विकट साधुओं की जमात आई। वैष्णव-स्थानों पर जाना, डाँट-डपट लगाना आदि कार्य, उनके वृत्तिगत कार्य थे। छोटे महाराज जी उस समय करह पर थे नहीं। जमात के साधुओं ने बड़े महाराज जी के पास जाकर प्रसाद बनाने के लिए सामान माँगा।

पूज्य श्री बड़े महाराजजी ने अपनी सहज प्रसन्नता से कहा—सन्त भगवान, यह सब आपका ही है, जो-जो आवश्यक हो, ले लीजिये," बड़े दरबार की इस बड़ी छूट से वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने समान माँगना शुरू किया। कोठारी-भंडारी परेशान ! मनों आटा-मनों दाल, कनस्टरों घी माँगने लगे। साधुओं ने आकर बड़े महाराज जी से शिकायत की कि वे इतना सामान ले रहे हैं जितना मूर्तियाँ नहीं हैं।" महाराज जी ने कहा—अरे भैया ! साधु हैं—माँगते हैं जो हो सो

देदो।" साधु देते गये वह लेते गये, खूब प्रसाद बनाया, पाया। तमाम आटा सामान था, काफी घी था, सब ऊँटों पर लाद लिया। भोजन बनाने के लिये जो बर्तन माँगे थे उन्हें भी ऊँट की पीठ पर लाद कर चलते बने। पता नहीं, उनका ऊँट किस करवट बैठा ! साधुओं ने महाराज जी को सूचित किया तो मुसकरा के बोले ए रे भैया ! ठीक है, कहां बर्तन मांगते, कहां आटा मांगते डोलते। अब जहाँ भूँख लगेगी, बनालेंगे। ले जाने दो, कोई बात नहीं।' वास्तव में उनके अन्तर्गत अपरिग्रह की असीम भावना थी। उनके मन में धन का आकर्षण कहाँ से आता ? भला ऊसर में खेती कहाँ से पैदा हो सकती है ? धन, शरीर-निर्वाह का एक उपाय हो सकता है पर वह अनिवार्य नहीं है, विशेषतः साधु के लिये। धन से उपभोग्य वस्तु एकत्र की जा सकती हैं पर उनका आनन्द इन्द्रियाँ उठाती हैं। सन्त ज्ञान देव ने बहुत ही सटीक कहा है—"इतना सब करके भी क्या कमा लोगे ?' कुछ विषय सम्पादन कर लोगे, तो मधुमक्खियों का मधु लोग लूट ले जाते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ उस सारे विषय को लूट लेंगी और तू नग्न हो जायगा" यदि कोई इस पर यह कहना चाहे कि इन्द्रियाँ लूट भी लें तो क्या हानि ? वह भी तो हमारी ही हैं इसके उत्तर में वे कहते हैं—'इन्द्रियों के चक्कर में पड़ने का अर्थ है दीनता का स्वीकार ! उनका ही कभी समाधान नहीं हुआ, तब वे तेरा समाधान क्या करेंगी ? सपने का धन, मृग-जल का नीर, बादल की छाया और इन्द्रियों का सहारा, सबकी कीमत समान है।" भला तब सन्त सिरोमणि पूज्य महाराज जी धन का दुलार कैसे करते ? उनके चरणों में दर्शनार्थी आते, रुपया-पैसा चढ़ाते, वे उससे सर्वथा निलिप्त रहते थे। चाहे कोई उठावे या पड़ा रहे। एक बार एक धनी पुरुषने पूज्य महाराज जी के चरणों में सौ रुपये का नोट चढ़ाया। चूंकि वह अकेले में आके चढ़ा गया अतः साधुओं को न मालूम हुआ। केवल एक साधु की निगाह पड़ी। वह नया ही नया साधु बना था, पर बड़े महाराज जी के स्वभाव से वह भली भांति परिचित हो गया था। अतः वह

बढ़ कर महाराज जी के पास गया और सौ रुपये के नोट को उठा के वहां से चलता बना। महाराज जी मुसकाते रहे। उन्हें जैसे ये खेल बड़े अच्छे लगते थे। बाद में उसी भक्त के द्वारा साधुओं को ज्ञात हुआ कि सौ रुपये का नोट चढ़ाया गया उसे अमुक रूप रङ्ग का साधु उठा के लेगया। स्थान के साधु बड़े अप्रसन्न हुए। उस साधु को पकड़ने के लिये तीन-चार साधु जाने लगे तो बड़े महाराज जी ने बड़े मजे से कहा—अरे एँरे भैया उसने चोरी थोड़े ही की है ? उसने तो हमारे सामने से रुपये उठाये हैं ! सामने से उठाने वाला कोई चोर थोड़े ही होता है ! और ले ही गया तो हानि क्या है ? साधु ही तो लेगया। साधु के पास रुपया होगा तो वह तीर्थ करेगा, भंडारा करेगा कुटी बन जायेगा।

इतना सुनने के बाद कौन क्या कहता ? बात आई गई हुई। इसी तरह की और भी कई घटनाएँ हुईं। मन्दिर से भी कुछ चीजें उठ जाती थीं। यदि कोई गृहस्थ ऐसी गलती कर देता और साधु उसकी शिकायत करते तो महाराज जी कह देते थे—अरे, कोई चीज चुराली तो चुरा लेने दो, गृहस्थ है, उसका मन बस में नहीं है, हाँ जो साधु है उसको ऐसा नहीं करना चाहिए।"

विश्वरूप रघुवंश मणि—

"दूध के कण-कण में मलाई संचित है। इतना ही, कि दूध तपाने से वह अलग दीख पड़ती है। उसी तरह विश्व में ब्रह्म भरा हुआ है। तपश्चर्या से, साधना से, उसे प्रकट करना होता है। उस हद तकही तुम हम साधकों का काम है वह जिन्होंने किया, उन्हें मानों मलाई अलग छाँट कर दीगयी"— **—सन्त ज्ञानदेव**

सचमुच सन्तों का हृदय तो ब्रह्म की रसायन शाला है। वहाँ प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म का अन्वेषण चलता रहता है। "नाजाने का

भेस में नारायण मिल जाय" की भावना काम करती रहती है। पूज्य श्री बड़े महाराज जी की भावना तो और भी ऊँची थी। वहाँ अन्वेषण नहीं था वहाँ तो मान्यता थी, विश्वास था। एक बार कुछ 'सपेरे' (सांप पकड़ने वाले) करह पर आये। गाँवों में उन्हें लोग 'नाथ' कह के पुकारते हैं। कन्धे पर बँहगी होती है जिसके एक ओर साँपों का पिटारा, दूसरी ओर अनाज का पिटारा रहता है। हाथ में 'महुअर' होती है। वे लोग करह पर पहुँचे और महाराज जी को प्रणाम करके बैठ गये। बड़े महाराज जी ने पूछा-भगत कहाँ से पधारे हैं ? उन्होंने कहा—महाराज ! हम लोग 'नाथ' हैं, घूमते फिरते रहते हैं।

उनका इस रूप में परिचय देना था कि बड़े महाराज जी आसन पर से उठ पड़े और दौड़कर उन सपेरों को गले से लगाने लगे तथा कहने लगे—"अरे भैया, तुम तो 'नाथ' हो। नाथ तो सिवाय रघुनाथ के और कौन हो सकता है ?" नयन सजल हो गये, कंठ गद्गद् हो गया। जाड़े के दिन थे अतः उन्हें कम्बल दिला दिये। अपने सारे वस्त्र उतार कर उन्हें दे दिये। और वे नाथ तो रघुनाथ की पदवी का अर्थ भी न समझे होंगे ! केवल हर्ष-विस्मय भरे नेत्रों से देखते रह गये। हाँ, उनके अन्तर्यामी सब कुछ समझकर प्रसन्न हो रहे होंगे। वैसे उस घोर जाड़े के दिनों में साँप पकड़ने वालों को कौन कम्बल देता ? उनका हृदय ही ऐसा था कि वे दुःखी प्राणी का दुःख देख नहीं सकते थे, फिर वह चाहे जो भी हो। एक बार की घटना है। जंगल में शेर ने एक साँड़ को घायल कर दिया, पर उसकी कुछ आयु शेष थी, वह बच गया, धीरे-धीरे चलकर करह के पास आ गिरा। किसी साधु ने बड़े महाराज जी को सूचित किया। बड़े महाराज जी सब साधुओं को लेकर वहाँ पहुँचे। साँड़ अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा था। बड़े महाराज जी ने छोटे महाराज जी से कहा—'भैया, बैल तो धर्म का रूप होता है इसका अन्तिम समय है। तुम इसे राम-मन्त्र दे दो। छोटे महाराज जी ने साँड़ को राम-मन्त्र देकर अच्युत गोत्री वैष्णव बना

दिया, सभी उपस्थित साधुओं ने कीर्तन की ध्वनि की और भगवन्नाम सुनते-सुनते साँड़ ने सन्तों के मध्य में अपनी पशुयोनि का परित्याग कर दिया। उसका विधिवत् संस्कार किया गया।

यह आदर केवल धर्म रूप वृषभ को ही नहीं दिया गया किन्तु तुच्छ-से-तुच्छ जीव को भी वे अपनी ओर से जहाँ तक बनता, सुख पहुँचाते थे। अपना शरीर और अपनी साधना दोनों प्राणियों को अर्पित कर देते थे। एक लोमड़ी जंगल से करह आश्रम की ओर चली आई। गीता के शब्दों में कह सकते हैं कि प्रारब्ध के यन्त्र पर चढ़ी लोमड़ी को माया की प्रेरणा से हृदयस्थ ईश्वर ही उधर ले आये, या यों कहें कि होनहार उसे उधर ले आई। वह जैसे ही आई कि कई कुत्तों ने उस पर अचानक आक्रमण कर दिया। वह भागी भी तो आश्रम की ओर ही। कुत्तों ने उसे घायल कर दिया। साधुओं ने देखा तो उसे बचाया। बड़े महाराज जी को पता लगा तो आप आसन से उठकर लोमड़ी के समीप गये। बेचारी लोमड़ी इतनी घायल हो चुकी थी कि उसके अल्प प्राण उड़ने ही वाले थे। सब साधुओं को बुलवाया। महाराज जी ने सबसे कहा—'भैया, सब साधु इसके लिये एक-एक राम नाम की माला जपो' आज्ञानुसार सब सन्तों ने एक-एक माला जपी। जैसे ही माला पूरी हुई कि लोमड़ी की आयु भी पूरी हो गयी। मानों उसके प्राण इसी की प्रतीक्षा में थे। सन्तों के मुख से नाम सुनकर प्राण छोड़ने के लिये करह के आश्रम में आने वाली उस लोमड़ी के अहोभाग्य थे! बड़े महाराज जी के हृदय में एक तुच्छ जीव के प्रति भी इतनी करुणा थी, इतनी व्याकुलता थी।

ये तो शिवजी हैं

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा
गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा

कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं
न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः
—कुमारसम्भव

अर्थ—भगवान् शंकर चाहे भूषणों से भूषित हों—चाहे सर्प लपेटे हों, चाहे गजचर्म धारण करें या रेशमी वस्त्र, कपाल धारण करें चाहे मस्तक पर चन्द्रमा, वे विश्व रूप हैं और विश्वमूर्त्ति शिव के रूप का निर्णय नहीं किया जा सकता।"

एक नैपाली साधु स्थान पर आया। उसका विचित्र वेष देखकर अन्य साधु उसकी ओर बड़े कुतूहल से देखने लगे। पर उस समय तो वैष्णवों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसकी भोजन-विधि देखी। आप कोठार घर में गये। वहाँ बड़े ध्यान से चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। इधर उधर दो चार चूहों को दौड़ते हुए देखा। भण्डारे का कोठार ठहरा! वहाँ चूहों की क्या कमी! मालगोदामों के चूहे मोटे होते ही हैं फिर वह माल गोदाम तो साधुओं का था वहाँ के चूहों की मस्ती का क्या कहना! बड़ी निर्भयता से वे अपना प्रदर्शन कर रहे थे। यकायक नेपाली साधु ने झपट्टा मारा और अपना दुपट्टा डालकर दो चूहों को दबोच लिया! दोनों को पकड़ा और सबके देखते-देखते गाजर मूली की तरह मुँख में रखकर उनका स्वाद लेने लगे! जीव हिंसा से डरने वाले वैष्णव साधुओं के लिये तो यह दृश्य असह्य हो गया और उन्होंने जाकर बड़े महाराज जी से उस साधु के घृणित आचरण के सम्बन्ध में बताया। बड़े महाराज जी के लिये तो सब रामजी की लीला थी। वे हँसकर बोले—"अरे भैया, वे नेपाल से आये हैं—साक्षात् शिवजी हैं! उनसे कुछ न बोलो" लीजिये अब वह शिवजी बन गये। अब किसका साहस कि कोई कुछ कहे? अन्यथा स्थान के साधु उसके वहीं हाथ पैर तोड़ देते या मार के भगा देते! वास्तव में वह साधु अघोरी था। बड़ा घिनौना था। वैष्णव साधुओं के स्थान पर कोई उसे एक क्षण भी न रहने देता, पर यहाँ तो वह 'नेपाली भगवान' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। वह पंगत के समय दाल

महाप्रसाद आदि खा लेता पर अपने असली भोजन के दाँव पेच में भी रहता था। आश्रम में इधर उधर चक्कर काटा करता और न जाने क्या-क्या कहा करता था। पर उस उन्माद दशा में भी कभी-कभी उसके मुख से देववाणी प्रकट होती थी। पर उसे बड़े महाराज जी ही समझते थे। उस समय तक करह पर देवी का तथा शिवजी का मन्दिर नहीं बना था। पर आजकल जहाँ देवी का मन्दिर बना है वहाँ खड़ा हो के नेपाली साधु कहता—"जगदम्बे-जगदम्बे कर हाथ लम्बे" "इस जगह श्री माताजी का मन्दिर, मन्दिर के आगे तिवारे, तिवारे के आगे तिवारे बनेंगे।"

उसकी भविष्यवाणी सर्वथा सत्य हुई। उस स्थान पर देवी का बड़ा विशाल एवं भव्य मन्दिर बना। करह पर महायज्ञ हुआ। उसके पश्चात् साधुओं को तीर्थ यात्रा आदि करने के लिये रुपये बाँटे गये। नेपाली भगवान न जाने तब कहाँ घूमते रहे! जब सब रुपये बँट गये, तब बड़े महाराज जी के पास नेपाली भगवान् पहुँचे। कहने लगे—"मुझे भी बिदाई दी जाय।" महाराज जी ने हँस के कहा—'नेपाली भगवान्! अब तो सब कुछ बाँट दिया गया; अब आपको क्या दिया जाय?' 'कुछ भी दिया जाय!' नेपाली भगवान ने उत्तर दिया। अचानक कुत्ते का एक खूबसूरत पिल्ला खेलता हुआ बड़े महाराज जी के समीप आ खड़ा हुआ। बड़े महाराज जी ने हँसकर कहा—"लो नेपाली भगवान, यह पिल्ला आप स्वीकार करें" नेपाली भगवान पिल्ला पाकर बड़े प्रसन्न हुए। नाचने लगे। पिल्ले को उठाके कन्धे पर धर लिया। वह पिल्ला उनका भविष्य में सच्चा प्रहरी बना। बड़े महाराज जी के उपदेश से उसने चूहा खाना छोड़ दिया। उससे कहा—"अरे नेपाली भगवान्! आप तो शिवजी हैं। चूहा गणेश जी का वाहन हैं, उसे खायेंगे? उसे खायेंगे तो गणेश जी दुखी होंगे।" साधु तो साँप बिच्छू को भी नहीं मारते।" बात मान गया और अघोरीपन छोड़कर सात्विक जीवन बिताने लगा।

वृक्षों में राम

श्री परमगुरुदेव मानवों की या जीव-जन्तुओं की तो बात ही क्या, पेड़ पौधों में भी सीयराम की झाँकी किया करते थे। करते भी क्यों नहीं? उनके नेत्रों में वही तो समाये थे। फिर तो "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सहजोबाई का अनुभव है—

'सहजो गुरुदीपक दिया नैना भये अनन्त।
आदि अन्त मधि एक ही सूझि परे भगवन्त॥'

और इस दशा में नेत्र जिधर झुकते हैं, राम उधर ही खड़े मिलते हैं। यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि नेत्र मूर्ति में लगे हैं या मूर्त्ति ही नयनों में लगी हुई है—

"नयन लगे वहि मूरति सों
किधों वह मूरति नयननि लागी।"

पूज्य श्री महाराजजी अपने आसन पर माला फेरा करते, सामने बरगद का वृक्ष है वे उसकी ओर बार-बार देखा करते, मुसकराया करते बहुत प्रसन्न हुआ करते थे। परन्तु उनकी मुख-मुद्रा सदैव ही प्रसन्न रहती अतः इस विशेष भाव से प्रसन्न बदन होने का कारण किसी ने नहीं पूछा। किसी का ध्यान नहीं गया। इस ओर ध्यान गया मनीरामदास पुजारी का। पुजारी अत्यन्त भावुक है, श्रीविग्रह की अर्चा में उनकी बड़ी निष्ठा है। वे जिस मन्दिर में पूजा करते हैं उसके सामने मन्दिर के वाम भाग में नीम के वृक्ष के नीचे बने हुए चबूतरे की कोर पर छोटी-सी मठी बनी है उसके ऊपर एक पटिया बिछी है। पटिया पर पूज्य परम गुरुदेव विराजमान थे। मन्दिर के जगमोहन (मन्दिर का बाह्य कक्ष) से महाराज जी के दर्शन होते थे। पूजा करते समय पुजारी की कई बार दृष्टि महाराज जी की ओर गयी और उन्होंने देखा कि वे बार-बार बरगद की ओर सस्नेह निहार रहे हैं। पुजारी ने सोचा—"क्या है उधर, जिसे महाराज जी देखकर

प्रसन्न होते हैं ? अन्ततः एक दिन पुजारी जी ने संकोचपूर्वक पूछा महाराज जी ! वट वृक्ष की ओर झुक-झुक कर आप देखते हैं। अत्यंत प्रसन्न होते हैं, उधर कुछ है तो नहीं, फिर कौन वस्तु है जिसे आप देखते हैं—यह क्या लीला है ?" बड़े महाराज जी केवल मुसकरा भर दिये, मनीरामदास पुजारी के कई बार पूछने पर पूज्य महाराज जी ने अपने हृदय का भाव प्रकट किया। बोले—'देखो इस बरगद को, कैसा विचित्र रूप है इसका। इसमें तने से ही तीन शाखाएँ हैं। दो शाखाएँ एक साथ हैं। तीसरी शाखा कुछ हटी हुई है। देखते हो वे दोनों पास-पास वाली शाखाएँ ? एक श्याम है एक नूतन गौर है—ये रामजानकी हैं" तीसरी शाखा श्री लक्ष्मणजी हैं, जो कुछ हटकर अपने जननी जनक तुल्य श्री सीताराम जी की सेवा में सावधान है।" पुजारी के नयनों में जल भर आया। सचमुच इस दृष्टि से कभी देखा ही नहीं था। अब महाराज जी ने कहा तब पुजारी को भी लगा कि सचमुच राम लक्ष्मण जानकी तीनों बरगद में विराजमान हैं। तबसे मनीरामदास पुजारी भी उसी भाव से बरगद को मानकर उस पर चन्दन फूल चढ़ाता है। 'सीयराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।'

वैष्णवता का प्रसार

विश्वव्यापी भगवान् विष्णु के उपासक वैष्णव कहलाते हैं। वैष्णव शब्द का शाब्दिक अर्थ यही है। क्योंकि विष्णु शब्द का अर्थ है व्यापक। वैष्णव विश्वव्यापक भगवान का सेवक होता है। सबके सुख में सुखी, सबके दुःख में दुःखी होते हैं। इसी हेतु वैष्णवों में सेवा प्रधान होती है। इसी व्यापक अर्थ को ध्यान में रखकर भागवतकार कहते हैं—

निम्नगानां यथा गङ्गा देवाना मच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा।

—भाग, एक० १२ अ० १२

अर्थ—नदियों में गंगा, देवताओं में भगवान अच्युत और जैसे वैष्णवों में भगवान शंकर श्रेष्ठ हैं वैसे ही पुराणों में भागवत श्रेष्ठ है।"

विषपान करने को उद्यत भगवान शिव को लक्ष्य कर भागवतकार ने कहा है—

"तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः"

"प्रायः साधु जन लोक ताप के सन्ताप से सन्तप्त होते हैं।"

गुजरात के सन्त का वह प्रसिद्ध पद तो प्रायः सभी ने सुना होगा जो महात्मा गान्धी का प्रिय भजन था, जिसकी प्रथम पंक्ति है :—

'वैष्णव जन तो तेणे कहिये जे पीर पराई जाणेरे'

पराई पीर से पीड़ित होने वाला भक्त ही सच्चा वैष्णव है। वह चाहे किसी जाति का हो। एक सन्त ने कहा—"गन्ना काला हो या टेढ़ा रस मीठा ही होता है, उसी प्रकार भक्त किसी भी जाति का हो तो भी वह विश्व वन्द्य ही होता है।

भक्ति ग्रन्थों में तो यह बात और भी कड़ाई से कही गयी है।

शूद्रं वा भगवद् भक्तं निषादं श्वपचं तथा
वीक्षते जाति सामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्

—हरिभक्तिविलास

"भगवद् भक्त शूद्र हो, निषाद हो अथवा चाण्डाल ही क्यों न हो यदि उसे भी कोई केवल जाति सम्बन्ध से देखता है, वह अवश्य नरक में पड़ता है।"

वैष्णव का इतना गौरव उसके व्यापक लक्षण को लेकर ही व्यक्त किया गया है। निर्दिष्ट भाव-गङ्गा में अवगाहन करने के लिए ही मुख्यतः चार आचार्यों ने चार घाटों का निर्माण किया जिन्हें 'सम्प्रदाय' कहा जाता है। उन सम्प्रदायों में दीक्षित व्यक्ति वैष्णव कहलाता है। परन्तु यह अभिधान पारिभाषिक है। हाँ, पारिभाषिक होने पर भी शास्त्रों ने वैष्णवगत गौरवशाली गुणों का होना ही अनिवार्य माना है। 'पुरुषार्थचिन्तामणि' ग्रन्थ में कहा है :—

परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते
नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी,
समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविप्लुतः
विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते ।

अर्थ- वैष्णवी दीक्षा से दीक्षित जो पुरुष अत्यन्त संकट के समय या अत्यन्त हर्ष का अवसर उपस्थित होने पर भी एकादशी व्रत नहीं छोड़ता तथा जो समस्त प्राणियों में आत्मभाव रखता है, अपने आचार से च्युत नहीं होता तथा अपने सम्पूर्ण कर्मों को भगवान के अर्पण कर देता है उसे 'वैष्णव' कहते हैं।"

पूज्य श्री बड़े महाराज जी तो त्याग वैराग्य के रत्नाकर एवं तपो मूर्ति तथा अत्यन्त करुणागार थे। वे सच्चे अर्थों में वैष्णव तो थे ही साथ ही वैष्णवों की आचार-पद्धति के अनुसार वे वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित भी थे। नूराबाद वाले श्री तपसी बाबा महाराज के शिष्य थे। आरम्भ में वे वैष्णवों के बाह्याचार का भी पालन करते थे। भस्म रमाते, धूनी तपते और अपने हाथ से भोजन बनाते थे। इसीलिए लोग पहले उनके पास आटा दाल ही ले जाते थे। पश्चात उनकी साधना अन्तर्मुखी हो गयी। प्रभु की प्रेरणावश जो कोई भी सात्विक भोजन बना के ले आता, वे ग्रहण कर लेते थे। मिट्टी का पात्र रखते थे। परमहंसों की वृत्ति स्वीकार कर ली थी या यों कहना ठीक होगा कि संसार की ओर से वैराग्य एवं प्रभु की ओर अगाध अनुराग के कारण वह वृत्ति स्वतः आविर्भूत हो गई। ऐसी वृत्ति के लिये अनुरागी सन्त सदा कामना करते रहे हैं।

'ऐसो कब करिहो मन मेरो
'कर करवा हरवा गुंजन को
कुंजनि माँहि बसेरो"

इस वृत्ति की साधना ऐकान्तिक थी; सामूहिक नहीं। सहसा किसी को शिष्य नहीं बनाते थे। अवश्य ही उनका वह जीवन बहुत कुछ ऐकान्तिक था पर अनन्त जनसमुदाय के वे श्रद्धा केन्द्र, आशा के

दीप एवं विश्वास के स्थिर बिन्दु थे। इस प्रकार जन-जन के आकर्षण स्थल, आस-पास के प्रदेश में अतीव प्रसिद्ध एवं प्रातर्वन्दनीय पूज्य चरण का इस परमहंस वृत्ति में प्रवेश देखकर कई वैष्णव सन्तों को क्षोभ होता था। एक वैष्णव सन्त श्री केशवदास जी ब्रह्मचारी ने एक घटना मुझे स्वयं सुनाई। संवत १९९१ की बात है। वे सन्त बड़े महाराज जी का नाम सुनकर उनके दर्शनार्थ करह पर गये। मार्ग में महाराज जी को भोजन ले जाने वाले कुछ लोग मिले। उन्हीं के साथ वे करह पर पहुँचे। पूज्य महाराज जी पटिया पर बैठे थे कुछ पानी बरस गया था, इसलिए वे जिस पटिया पर बैठे थे उसके चारो ओर से लाल चींटियों के दल के दल निकल कर महाराज जी के शरीर पर चढ़ गये थे। पर महाराज जी बैठे थे— शान्त, निश्चल! मुख पर उद्विग्नता का लेश भी नहीं था। देखने वाले अवश्य परेशान थे कि बाबा गुड़ के ढेले हैं या चीनी के ढेर, जो ये चींटियां उन पर चढ़ गयी हैं! और इनके शरीर में इससे कोई रोमांच या सिहरन तक नहीं है। हाँ, महाराज जी के लिये, यह कोई विशेष बात न थी। ऐसा कई बार हो जाता था। यहाँ तक कि उनकी देह पर खानखजूरे चढ़ जाते थे और वे निर्विकार शंकर की तरह असम्भ्रान्त रूप से बैठे रहते। एक बार तो उनके आस पास उनकी पटिया पर बेहद चींटियां रेंगती रही और आश्चर्य की बात थी कि २८ घंटे तक उसी रूप में चींटियों के दल उमड़ते रहे तथा महाराज जी भी २८ घंटे तक अपने आसन पर विराजमान रहे, आसन पर से न हिले न डुले! आखिर उठते या निकलते तो चींटियों को रोंदना पड़ता, बिना चींटियों को कुचले जा नहीं सकते थे। इतनी करुणा थी उनमें। तो ये वैष्णव सन्त भी उनके शरीर पर लाल चींटियों को चढ़ी हुई देखकर एवं चींटियों का काटना याद करके स्वयं सिहर उठे। पूज्य महाराज जी की इस करुणा तथा सहनशीलता से बहुत प्रभावित हुए, थोड़ी ही देर में वे चींटियों के दल सहसा उतर-उतर कर बिलों में गायब हो गये, इससे कुछ आश्चर्य

चकित भी हुए। परन्तु जब उन्होंने सबके यहाँ से लाई गई रोटियों को ग्रहण करते देखा तो उनके मन में बड़ी ग्लानि हुई कि सन्त तो हैं पर आचार्यकोटि के नहीं हैं। खैर, वे सन्त उस दिन तो वहीं रहे। दूसरे दिन प्रातः स्नान करके गीता पाठ करने बैठे। क्योंकि करह से शीघ्र चल देने का विचार था, अतः पाठ क्या किया, जल्दी-जल्दी पन्ने पलट लिये। आसन बाँधा और बड़े महाराज जी के पास दण्डवत् करने पहुँचे। पूज्य महाराज जी ने मन्द मुस्कान के साथ कहा– "सन्त भगवान! आपका गीतापाठ तो बड़ी जल्दी हो गया। महाराज जी के इस प्रश्न से महात्मा लज्जित तो हुए ही पर उससे भी अधिक आश्चर्य चकित थे। उन्होंने सोचा—"हम बिलकुल अलग एकान्त में पाठ करते थे, इन्हें ये बात कैसे मालुम हुई और साथ ही यह भी कैसे मालुम हो गया कि मैं गीता पाठ कर रहा था। अवश्य इनमें कोई चमत्कार है।" वैष्णव संत ने सादर प्रणाम किया। आज्ञा लेकर दूसरे प्रसिद्ध सन्त 'मुले बाबा के दर्शनार्थ उनके आश्रम पर गये। वे भी परमहंस वृत्ति में रहते थे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि मुले महाराज जिस मिट्टी के पात्र से पानी पी रहे थे, उसी को शौचार्थ ले गये। लौटकर उसी से कुल्ला किया, हाथ मुँह धोया! वैष्णव महात्मा अपने ही सामने यह सब देखकर कहने लगे—'महाराज, यह मिट्टी का पात्र है,इसे आप शौच में ले गये तो यह अपवित्रनहीं हुआ? फिर उससे जल पीना तो सर्वथा अनुचित है? महात्मा ने कहा— "आप लोग शौच में धातु पात्र ले जाते हैं तो उन्हें कैसे शुद्ध करते हैं? इन्होंने कहा—'मिट्टी से।' महात्मा ने तत्काल सहज भाव से उत्तर दिया—"फिर हमारा पात्र तो निरा मिट्टी का है वह अपवित्र कैसे?" वैष्णव सन्त इस उत्तर से निरुत्तर हो गये।

पर बड़े महाराज जी के यहाँ ऐसे चातुर्य की, ऐसे तर्कपूर्ण उत्तर की कभी गुंजाइश नहीं थी। वे मिट्टी का पात्र रखते थे। किसी ने कहा—'महाराज जी, यह ठीक नहीं, इसकी जगह यह धातु पात्र रखिये', तो वही रख लिया। वस्तुतः बाह्य रूप पर उनका कोई

विशेष आग्रह नहीं था कि वह कैसा हो। लोक-प्रलोभन या लोक-सम्मान की कामना के लिये तो उनका हृदय ऊसर भूमि था। क्योंकि उक्त भावना साधना के लिये अनिष्टकारिणी होती है। इसीलिये तो सन्त तिलक तुलसीदास जी ने कहा है—

'लोक मान्यता अनल सम, कर तप-कानन दाह'

किन्तु साधना का यह ऐकान्तिक रूप अधिक समय तक न चला। उनके भजन का प्रताप चारों ओर फैलने लगा। जब सुरभित पुष्प अपने कोष को उन्मुक्त कर खिल उठता है तब अपनी मधुर गन्ध को कहाँ छिपा सकता है? वह स्वयं चाहे सघन पल्लवों में भले ही छिपे पर भावुक भ्रमर उसे ढूँढ़ ही लेते हैं। सन्तों का ज्ञान, प्रकाश रूप होता है। प्रकाश का स्वयं अपने आप में क्या उपयोग? दूसरों के मार्ग-दर्शन में ही उसकी सार्थकता है। सन्तों की साधना के सुफल का प्रसाद सभी को मिलता है। वस्तुतः उस समय ऐसे पथ-प्रदर्शक की, ऐसे शान्ति दूत की आवश्यकता थी जो जीवन में प्रकाश, आत्मा में बल और हृदय में निर्भयता भरसके। महाराजजी की साधना ने यही किया। श्रद्धालु लोग, जंगल में भी उनके पास पहुँचने लगे। जब चन्द्रमा अपनी षोडशकलाओं से पूर्ण होकर गगन में उदित होता है तो उसके बिना कहे ही समुद्र में लहरों का मेला लगने लगता है। जब सूर्य निकलता है तो लोग अपने आप जागने लगते हैं अथवा चुम्बक पत्थर जब समीप होता है तो लोहा अपने आप उधर आकृष्ट होने लगता है। पूज्य महाराज जी के पास जनता भी आने लगी। उन्हें बड़े महाराज जी के समीप बड़ा सुख मिलता और बड़ी शान्ति मिलती थी। कोई भोला व्यक्ति किसी कीमती इत्र का मूल्य भले ही न समझे पर उसकी सुगन्ध से वह मस्त तो हो ही सकता है? "सन्त कैसे बोलते हैं, कैसे चलते हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का व्यवहार करते हैं, कैसे निर्भय रहते हैं, किस प्रकार निस्पृह रहते हैं, कितने इच्छा रहित हैं, कितने संयमी, कितने मृदु लेकिन कितने निश्चयी,

कितने निरहंकारी, कैसे सेवा-सागर, कितने निरलस, कितने क्षमाशील, उनका वैराग्य कैसा रहता है, कैसी निर्मल दृष्टि होती है, कैसा विवेक होता है, कैसा अनासक्त व्यवहार होता है।" यह सब सहवास में आने के कारण लोग समझने लगे। जो एक बार भी दर्शन कर जाता उसका अनेक बार दर्शन करने को जी चाहता था। इन आने वालों में से दो दर्शक ऐसे निकले जो केवल दर्शक न होकर दर्शनीय बन गये। जिन्होंने सर्वतो भावेन परम गुरुदेव के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। यही दोनों भविष्य में भक्ति-भावना के अखण्ड स्रोत सिद्ध हुए, जिनसे आगे चलकर शिष्य-परम्परा के दो प्रवाह बहे, ठीक गंगा-यमुना के दो प्रवाहों की तरह। दोनों का गन्तव्य स्थल एक, दोनों की मूल भावना एक, इस दृष्टि से दोनों का एकीकरण-सम्मिलन पावन बना—ठीक सङ्गम की तरह मंगलमय !

उनमें से एक हैं, जिन्हें आज का जनवर्ग, गालव खोह के तपस्वी परहंस भूषण श्री श्री १०८ बाबा लखनदास जी महाराज के रूप में जानता है। वे बड़े महाराजजी के प्रथम सौभाग्यशाली शिष्य हैं, अत्यन्त क्षीणकाय-केवल अस्थिमात्र; पर आत्मबल के भण्डार अतः सबल एवं सुपुष्ट। निर्भयता की मूर्ति, सिद्ध-परम्परा के प्रतीक हैं वे। उनकी रहनी ऐसी अद्भुत है कि उसे कोई बिरले ही लख पाते हैं, उनके विचित्र आचरण बड़े-बड़ों को दिग्भ्रान्त कर देते हैं।

बड़े महाराज जी के दूसरे शिष्य हैं श्री छोटे महाराज जी। अपने पूज्य गुरुदेव के प्रति अनन्य निष्ठावान, उनके अतिप्रिय शरणापन्न, उनकी एक-एक इच्छा, उनकी तनिक-तनिक कामना की पूर्ति में अपनी बहुमुखी प्रतिभा एवं चतुर्मुखी प्रभाव को लगा कर लोगों को चकित कर देने वाले एवं स्वयं को कृत कृत्य मानने वाले, विविध उत्सवों के द्वारा भोले ग्रामीण जनों के सम्मुख, जंगल में मंगल की झाँकी, राम-लीला-रासलीला के अत्यन्त उत्कृष्ट रूप, गीता रामायण, भागवत आदि के अनूठे प्रवचन एवं भारत भूमि के विभिन्न भागों के विविध सन्त-रत्नों के दुर्लभ दर्शनों को सुलभ कर देने वाले, धरती पर बैकुंठ



श्री १०८ श्री बाबा लखनदास जी महाराज, खिरावली

जैसा उतार देने वाले, सन्त साहित्य के अद्भुत सारग्राही, गोस्वामी तुलसीदास-विरचित रामचरित मानस के अनुपम वक्ता, शान्ति एवं धैर्य के सिन्धु, देवोपम दिव्य रूप श्री श्री १०८ बाबा रामदास जी महाराज हैं।

प्रथम शिष्य

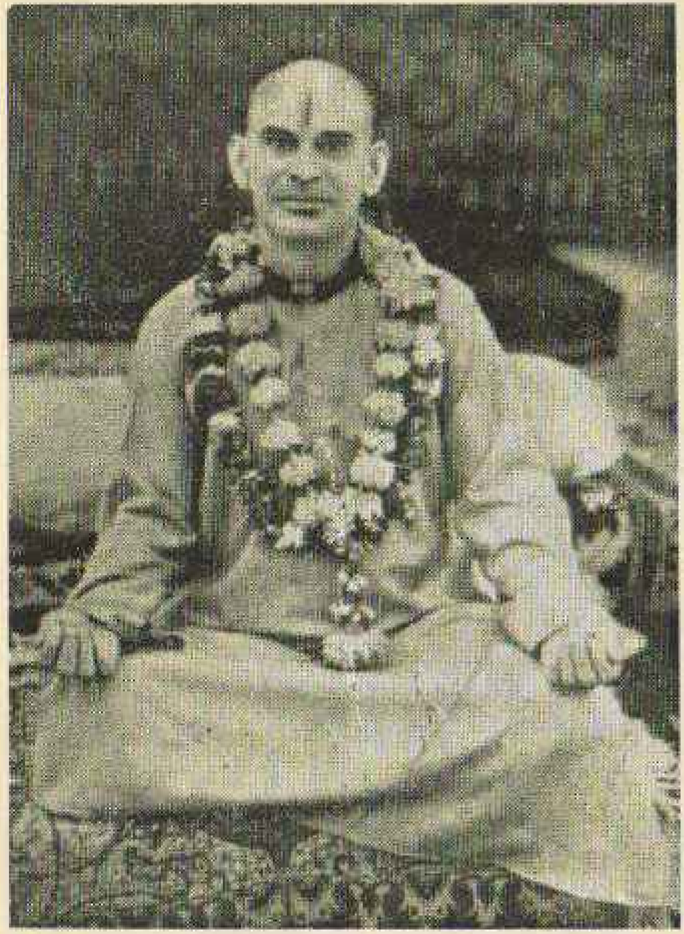
देवै किनका दरद का, टूटा जोरे तार।
'दादू' साधे सुरति कूँ सो गुरु पीर हमार।

संवत् १९८१ की बात है। जेठ का महीना था। चिलचिलाती धूप आग बरसा रही थी। ठीक उसी समय एक नौजवान चलकर करह पर बड़े महाराजजी के पास पहुँचा। ब्राह्मण शरीर, इकहराबदन इरादे का पक्का। फिर जिसके लगी हो वह न सरदी देखता है न गरमी, करह से कुछ ही दूर पर एक ग्राम है—सेवा। युवक वहीं का रहने वाला था, ग्वालियर राज्य की पुलिस में नौकरी करता था। सब कुछ छोड़ कर आया था—नौकरी, घर-परिवार अनेक सम्बन्ध। मन से दूसरे दरबार में रहने का संकल्प जो कर चुका था !

बड़े महाराज जी ने लख लिया कि युवक दृढ़ निश्चयी है तो पहले उसे नरसिंह मन्त्र दिया और पश्चात् राममन्त्र। मानों शक्ति के भंडार की दो कुंजियाँ देदीं। राममन्त्र के साथ नरसिंह मन्त्र देने की परम्परा यहाँ की विशेषता रही है। मन्त्र देने के पश्चात् नामकरण भी कर दिया 'लखनदास'। जिनके सम्बन्ध में थोड़ा-सा संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। परमहंस वृत्ति तो थी ही। लखनदास जी ने भी उसी का अनुसरण किया। वे मन्त्र लेकर तीर्थ यात्रा को चल पड़े। साथ में एक ताम्र पात्र, एक धौकी लाठी, दो हाथ का टाट एवं दो लँगोटी-बस इतना ही उनके पास सामान था। जब ये ऋषिकेश स्वर्गाश्रम पहुँचे तो किसी अपरिचित सन्त ने इन्हें एक रेशमी चद्दरा दिया।

जब इन्होंने उसे अस्वीकार किया तो उस सन्त ने कहा—

"यह अवश्य ले लो, यह मामूली चद्दर नहीं, भगवान के सिंहासन के नीचे का चद्दरा है" यह कथन सुनकर इन्होंने प्रभु की प्रेरणा समझ कर स्वीकार कर लिया। बद्रीनारायण से लौट कर पुनः करह पर आये। साथ में रामेश्वर पर चढ़ाने के लिए गंगोत्री से गंगाजल भी लाये। उस समय करह पर विशेष मकान नहीं थे। वहां मुख्य मन्दिर और एक तिवारा था। मन्दिर की दशा भी अच्छी नहीं थी। श्री लखनदास जी महाराज ने गंगाजल की सीसी मन्दिर में टाँग दी थी। सोचा कि महाराज जी से आज्ञा लेकर रामेश्वर जायेंगे। ये महाराज जी की सेवा में बैठे थे कि ढूँढनाक बाबा उनके गंगाजल को पी गया। बड़े दुखी हुए। बड़े महाराज जी ने हँसके कहा—"अरे लखनदास! समझ लो भगवान शंकर ही स्वयं पी गये हैं। तुम्हारा गंगाजल तो रामेश्वर पर चढ़ गया।" कुछ दिन महाराजजी की सेवा में रहकर महाराजजी की आज्ञा से नूराबाद के समीप टेकरी पर चले गये। पाठकों को स्मरण होगा कि यह टेकरी वही थी जहां सर्वप्रथम बड़े महाराज जी ने निवास किया था। वहां इन्हें कई चमत्कार हुए। वहां से ये भ्रमण पर पुनः निकले। उस भ्रमण काल में भी दो एक ऐसी घटनाएं हुई जिनसे इनका आत्मबल अधिक बढ़ा। उसके पश्चात् वे खिरावली गांव के पास गालव खोह में जा विराजे। उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैली। उनकी शिष्य परम्परा भी बढ़ने लगी। केवल उन्हीं के नहीं, उनके शिष्यों के भी शिष्य बढ़ने लगे। नाम सुन-सुनकर दूसरे सन्त भी दर्शनार्थ आने लगे। उनका समस्त-शिष्य परिवार परमहंस वृत्ति के अनुसार रहने लगा। जो वस्तु साधना की चरम सीमा पर उपलब्ध होती थी उसका आचरण साधना के पूर्व ही किया जाने लगा! यह एक चिन्तनीय विषय था। यही विषम परिस्थिति दूसरी ओर भी हुई। बड़े महाराज जी के द्वितीय शिष्य बड़े लोकप्रिय हुए। उनका संक्षिप्त वृत्त निम्न प्रकार है।



श्री १०८ बाबा रामदास जी महाराज, करह

द्वितीय शिष्य

दो०- गगन-भवन नग-से जड़े उड़गन जगमग होय।
किन्तु चन्द्र बिन तिमिर को दूर करे ना कोय॥

संवत् १९८० तक कचहरी नूराबाद में लगती थी। इसके पश्चात् वह मुरैना चली गयी। जब नूराबाद में कचहरी थी तब छोटे महाराज जी उसी में काम करते थे परन्तु तब वे छोटे महाराज जी नहीं—'जगमोहन' थे। जगमोहन बड़े सङ्गीत-प्रिय, मित्र मण्डली के रत्न, रामलीला नाटक आदि मनोरंजक कार्यक्रमों के मञ्जु संयोजक, साथ ही विनम्र साधुसेवी थे। जो कुछ कमाते, सुहृद सन्तों में ही खर्च कर देते। घर के लिए एक पैसा न बचता। वस्तुतः घर को इनके पैसे की आवश्यकता भी नहीं थी। नूराबाद में रहते, सायंकाल श्री तपसी जी महाराज की सेवा में अवश्य पहुँचते थे। जैसे ही मन्दिर का द्वार खट खटाते, तपसी जी महाराज का प्रश्न होता—"कौन ?" "मै हूं'जग मोहन' उत्तर देते तो महात्मा जी कहते -'अरे जगमोहन, तूने जग मोह लिया' तपसी महाराज का यह कथन जगमोहन के लिये सफल आशीर्वाद हो गया। वे नियम पूर्वक तपसी जी महाराज की चरण सेवा करने प्रतिदिन जाते थे। अवकाश के दिन 'करह' पर श्री बड़े महाराज जी के दर्शनार्थ भी पहुँचते थे। वहीं निवास करते। महाराज जी को रामायण सुनाते। जगमोहन की वाणी सचमुच बड़ी मोहक थी। मधुर कंठ से जब उच्च स्वरों में रामायण की चौपाइयाँ गाते तो बड़े महाराज जी के नेत्रों से झर-झर आंसू झरने लगते थे। कभी-कभी तो बड़े महाराज जी इतना फूट-फूट कर रोने लगते कि संकुचित होकर जगमोहन रामायण-गान बन्द कर देते थे, पर बड़े महाराज जी बड़ी करुणामयी वाणी में अनुनय करते—ए' रे जगमोहन! अरे भैया थोड़ी और कह, वह कहते "महाराजजी! आप इतना अधिक रो पड़ते हैं कि हमारा जी घबड़ा जाता है।" महाराज जी कहते—'अरे नहीं भैया! रघुनाथ जी के ऐसे ही चरित्र हैं,सुनकर रुलाई आ ही जाती है, थोड़ा और कहो। बड़े महाराज जी के अनुनय पर वे फिर

कहने लगते। इस प्रेम का जादू जगमोहन पर भी चल गया। संवत् ८१ में श्री हरिद्वार का कुम्भ होने वाला था, उससे एक महीना पूर्व ही वृन्दावन धाममें सन्त समागम हुआ। जगमोहन वहीं पहुँचे। एक महीने तक सत्संग का लाभ उठाया और जब सन्त कुम्भ में पहुँचे तो आप भी उनके साथ ही गये। डेढ़ महीने तक सन्त दर्शन, कथाश्रवण तथा गङ्गास्नान का आनन्द लिया। इतने दिनों के संत-संग के कारण हृदय में वैराग्य भावना तथा प्रभु के प्रति उत्कट भावना दोनों प्रबल हुईं। परन्तु भावना को उचित मोड़ देकर तथा उसे प्रबल वेगशाली बनाकर सागर तक पहुँचाने वाले सच्चे सन्त को आवश्यकता थी। वे ऐसे पहुँचे हुए गुरु की खोज में चल पड़े। चित्तौड़गढ़ मन्दसौर उज्जैन, भूपाल चित्रकूट एवं प्रयागराज होते हुए श्री अयोध्या जी पहुँचे। सरयू में स्नान किया। हनुमान गढ़ी पर हनुमान जी से प्रार्थना कि हम अनेक स्थानों पर भटक आये, कहीं भी चित्त को शान्ति नहीं मिली! मुझ पर कृपा करो, मुझे शरणापन्न बनाओ" उनकी इस सच्ची प्रार्थना ने असर किया। अदृश्यवाणी द्वारा स्पष्ट संकेत मिला—'करह पर जाओ वहीं शरणापन्न बनो, तुम्हें शान्ति मिलेगी।" सुनकर हृदय भाव-विभोर होगया। वे लौटकर करह पर आये। पूज्य श्री बड़े महाराज जी के शरणापन्न हुए। इस प्रकार संवत् ८२ में ही श्री छोटे महाराज जी पूज्य परम गुरु के शरणापन्न हुए। संवत् ८१ में श्री श्री १०८ श्री लखनदासजी महाराज भी शरणापन्न हुए थे। उनके कुछ महीने बाद ही पूज्य बड़े महाराज जी के ये द्वितीय शिष्य बने, पूज्य बड़े महाराज जी की आज्ञा से ही मुरेना मण्डी से १ मील पूर्व की ओर 'बड़ोखर' के हनुमान जी पर साधना आरम्भ की। यद्यपि यह स्थान उनके मनोनुकूल नहीं था क्योंकि मुरेना में उनके कई घनिष्ठ मित्र थे। उनकी मित्र मण्डली उनके विविध गुणों पर इतनी मुग्ध थी कि वह वहाँ बराबर पहुँचती रहती। 'बड़ोखर' का हनुमान-मन्दिर विशाल वट वृक्ष के पल्लवों से आच्छादित है। केवल पल्लव ही नहीं जटा प्ररोहों का जाल, जालीदार झिझरियों का दृश्य उपस्थित करता है।

छोटे महाराज जी मन्दिर के सामने लगभग दो डाई हाथ लम्बे पत्थर के पाट पर बैठे रहते रात दिन का वही आसन था उनका। यदि किसी ने दे दिया तो खा लिया नहीं तो राम-नाम लेते रहे। रात में भूल से नींद आगई तो आगई अन्यथा सारी रात राम-लगन में माते रहते। जागरण के कारण नयन अरुण वर्ण होगये थे। शरीर कृश होगया था। हाँ नाम-प्रेम पुष्ट होता जारहा था—'नित नव राम प्रेम पन पीना।" चाहे कोई आये या जाये, न किसी से बातें करना न किसी की ओर देखना। मित्र मण्डली आती, तङ्ग करती, हँसी मजाक उड़ाती और यह यत्न करती कि उनका पुराना अन्तरङ्ग मित्र जग-मोहन अपने पूर्व स्वभाव के अनुकूल ही उनसे हँसे, बोले, पर उन्हें क्या पता था कि उनका पूर्व परिचित 'जगमोहन' सच्चा 'रामदास' बन गया है। उन्हें आश्चर्य था कि आकर्षक वेष भूषा में सुशोभित रहने वाला उनका साथी एक लँगोटी धारी एवं मृत्तिका पात्र धारी कैसे बन गया! मित्रों से ये नहीं देखा गया। उन्होंने बल पूर्वक शोभन वस्त्र पहना दिये। मृत्तिका पात्र फेंक दिया। उनके इस प्रयास में जहाँ उनका प्रेम था वहाँ प्रभु की ओर से ये सब परीक्षाएँ थीं। मित्रों के प्रयत्न विफल होगये। पूज्य महाराजजी परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। कई बार ऐसे चमत्कार हुए कि इनकी मित्र मण्डली, सेवक मण्डली बन गयी। "कोटि विघ्न जो सन्त को तदपि नीति नहि त्याग।"

तीन वर्ष तक वे उसी अवस्था में नाम-निरत रहे उन्हें हनुमानजी की, कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। इसी सिलसिले में उन्हें कुछ प्रेरणाएँ हुईं, वे प्रेरणाएँ लोकसंग्रह के लिये थीं। उन्हीं से प्रेरित होकर लोकहितार्थ गाँव-गाँव भ्रमण किया। स्थान-स्थान पर अखण्ड भगवन्नाम कीर्तन की प्रथा डाली। वे उसी गाँव में ठहरते थे जहाँ सात दिन का अखण्ड कीर्तन होता था, भगवल्लीला का आयोजन होता।

प्रभु में प्रेम और लोक में मर्यादा इन दोनों का प्रसार, इन दोनों का मणि-कांचन संयोग—जैसा व्यावहारिक समन्वय स्थापित हो, यह उनकी हार्दिक भावना रही। इसकी सफलता के लिये 'सीताराम'

प्रचार के साथ गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित मानस को माध्यम बनाया। तुलसी के 'मानस' में उन्हें लोकमानस की अविकृत प्रतिच्छाया दीख पड़ी। गाँवों में वे जब रामचरित की कथा कहते थे तो जनता विभोर हो जाती थी। 'मानस' की अद्भुत व्याख्या, सरस-वाणी, स्नेह और उदारता मण्डित निष्कपट हृदय एवं त्यागपूर्ण व्यवहार, इनके ये सब गुण जनता पर जादू का असर करते थे।

उनका प्रभाव बढ़ा, अनुयायी बढ़े, उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत होने लगा। उन्होंने देखा कि गाँवों में तो फिर भी श्रद्धा के अंकुर हैं पर नगरों में आधुनिक वातावरण की तीक्ष्ण किरणों ने श्रद्धा की सुकुमार भावनाओं को झुलसा दिया है अतः उन्होंने नगर-जीवन में प्रवेश किया। इससे उनके न चाहने पर भी उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी।

इस प्रकार दो प्रभावशाली शिष्यों की शिष्य परम्परा विस्तृत होने लगी। वे सब तीर्थों में, वैष्णव-स्थानों में, कुम्भ के अवसर पर साधु समाज में आने जाने लगे। मिलना जुलना अच्छा होता है। कूपमण्डूकता दूर होती है। आचार-पद्धति, रहन-सहन भावादि का परिज्ञान होता है। करह का नया शिष्य-समुदाय भी मिलने लगा। पर उसे एक कठिनाई, एक संकोच का अनुभव होने लगा। क्योंकि वह वैष्णवों के आचार से शून्य था। परमहंस वृत्ति में रहने के कारण स्वच्छन्द रहन-सहन एवं स्वच्छन्द खान-पान का आदी था। फलतः सर्वत्र ही उसे घृणा तथा तिरस्कार का लक्ष्य बनना पड़ा। अब वह टकसाली साधु समाज से कतराने लगा। यह अच्छा लक्षण नहीं था। इससे उन्हें दुःख भी होता था। धीरे-धीरे उनकी व्यथा-कथा बड़े महाराज जी की कानों में आने लगी। वह इस बात का संकेत पहले भी कर चुके थे। छोटे महाराज जी भी इससे सहमत थे। परन्तु यह प्रश्न इतने तीव्र रूप में इससे पहले कभी उपस्थित नहीं हुआ था। इसका एक ही उपाय था कि स्थान पर पुनः वैष्णव-पद्धति की प्रतिष्ठा की जाय। समस्त शिष्य समुदाय आचार का पालन करें। कंठी,

तिलक यज्ञोपवीत धारण कर विधि-मार्ग से चलें, पर यह तब तक सम्भव नहीं था जब तक गुरुवर्ग उक्त पद्धति को नहीं अपनाता। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि श्री बड़े महाराज जी स्थान पर जब कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन के इच्छुक होते तब वे स्वयं कुछ नहीं कहते थे। सिड़ी पागलों के माध्यम से प्रकट करते थे; इस तरह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते थे। स्वयं तटस्थ रहते थे—बिलकुल कमल-पत्र की तरह निर्लिप्त!

वस्तुतः करह स्थान की साधु परम्परा वैराग्य एवं तपः प्रधान थी, आचार प्रधान नहीं। उसमें उपासना थी किन्तु वह भाव प्रधान-हृदय प्रधान थी, क्रिया-प्रधान नहीं। नाम जप की, नाम कीर्तन की अनन्य अनुगामिनी थी, किन्तु उपचार-प्रधान नहीं थी। इस त्याग एवं वैराग्य की भाव धारा में करह स्थान भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह स्वयं वैराग्य का पोषक है। जन समुदाय से पृथक् होने के साथ ही वह एक ऐसा स्थान है जिससे कोई जागीर-जायदात नहीं लगी और न कहीं से मासिक या वार्षिक कोई बन्धान बँधा है। इस तरह वह स्वयं त्याग वैराग्य का प्रतीक है। यही कारण था कि वहाँ की शिष्य परम्परा में उन बातों की प्रधानता थी। पर उसके साथ शास्त्रीय आचार विचार का संयोग होना आवश्यक था। यह सोने में सुगन्ध की तरह, इक्षु में फल की तरह, चन्द्रमा में लांछन-हीनता की तरह उनके वैराग्य में चार चाँद लगा देने वाली बात थी।

हाँ, करह का गुरुस्थान, नूराबाद का नरसिंह मन्दिर था। वहाँ शास्त्रीय आचारपद्धति का पालन होता था। नूराबाद वाले तपसी महाराज के दूसरे शिष्य श्रीयुत महन्त हरीरामदासजी, 'व्याकरणाचार्य' थे। वे आचार-प्रधान वैष्णव-धर्म के कट्टर अनुयायी थे। विद्वान् होकर भी अर्चाविग्रह की पूजा में अत्यन्त निष्ठावान् थे। जन समुदाय से उदासीन एवं दिन-दिन भर शास्त्राभ्यास में निरत रहते थे। परन्तु उनके शास्त्र-ज्ञान तथा उनकी विद्वत्ता के चारों ओर उनका स्वभाव बबूल के काँटों की बाड़ थी। परिणामस्वरूप, उनसे किसी को कुछ

लाभ, उनके ज्ञान का न मिला। उन्हीं के शिष्य हैं—'बंगाली बाबा'।

वह करह पर गये। वहां आकर उनकी वृत्ति विचित्र होगयी। दिन दिन भर दौड़ लगाते, हाथ में तीर कमान लिये उछलते कूदते रहते थे और हाथ उठाके कहते—'लखनदास शंकर है, रामदास विष्णु है, अब वैष्णव धर्म चलेगा। सबको कण्ठी तिलक धारण करने पड़ेगें, चोटी रखनी होगी।" बंगाली बाबा इसी प्रकार कूदते और चिल्लाते थे। इसी तरह कहते-कहते एक महीना होगया। तब बड़े महाराज जी ने छोटे महाराज जी को बुलाकर कहा कि 'भैया, अब तो रामजी की इच्छा है, वैष्णव धर्म को फिर से चलाना होगा।' छोटे महाराज जी ने कहा—'महाराज जी, अब बड़ी कठिनाई होगी, जो नियमों के बन्धन में नहीं रहे हैं उनसे वैष्णव धर्म के नियमों का पालन होना मुश्किल जान पड़ता है, फिर आपकी जैसी आज्ञा होगी, वैसा किया जायगा, इतनी ही बात होकर रहगयी। इसमें और कुछ प्रगति नहीं हुई। श्री छोटे महाराज जी को उस समय वृन्दावन जाना था, वे चले गये। इधर बंगाली बाबा वैष्णव धर्म की पुकार लगाते ही रहे। बड़े महाराज जी ने साधुओं से कहा—'भैया, ये तो रामजी की इच्छा है, जोरदार इच्छा है। अब इसमें देर नहीं करना है। इतना कहकर वे गुरु स्थान नूराबाद की ओर चल पड़े। स्थान का साधु समुदाय उनके पीछे हो लिया। वे नूराबाद के नरसिंह मन्दिर पर आये। वहां से पहाड़ी के भक्त फेरनसिंह को छोटे महाराज जी के पास वृन्दावन भेजा गया। फेरनसिंह ने वहां जाके छोटे महाराज जी से सारा वृत्तान्त कहा। वे वहां से तत्काल नूराबाद आये। बड़े महाराज जी की आज्ञानुसार सीतापुर के बूढ़े बाबा को बुलवाया गया। वे बड़े महाराज जी के बड़े गुरु भाई थे। सब लोग श्री तपसी महाराज के चित्र के सम्मुख एकत्र हुए। चित्र के सामने तुलसी की कंठियां रखदीं। सीतापुर के बूढ़े बाबा ने तपसी महाराज के चित्र से स्पर्श कराके एक कण्ठी बड़े महाराज जी के कण्ठ में बाँध दी। बड़े महाराज जी ने पहले श्रीलखनदास जी महाराज के गले में कण्ठी बाँधी

पुनः श्री छोटे महाराज जी के कंठ में बाँधी। उन्होंने अन्य शिष्यों को कंठी-तिलक दिये। शिखाएं रखवाई गई। भंडारा हुआ और उस दिन से करह पर वैष्णव धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई।

अनूठी नाम निष्ठा

एकाङ्गसङ्गिनी गंगा पावयेदखिलं जगत्
अंगप्रत्यंग-संव्यापि नाम किं कर्तु मक्षमम्।

अर्थ—प्रभु के एक अङ्ग, केवल चरण से सम्बन्ध रखने वाली गङ्गा अखिल विश्व को पवित्र करने की सामर्थ्य रखती है किन्तु प्रभु का नाम तो उनके प्रत्येक अंग से सम्बन्ध रखने वाला है अतः वह क्या नहीं कर सकता ?" वेद भगवान् कहते हैं—

नामानि ते शतक्रतो ! विश्वाभिर्गीभिरीमहे,
—ऋ० ३। ३७। ३।

अर्थ—हे इन्द्र ! आपके नामों का हम बैखरी आदि चारो वाणियों से उच्चारण करते हैं।"

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः
हिरण्य गर्भ इत्येष मा मा हिंसी दित्येषा यस्मान्न
—जात इत्येवः।

अर्थ—जिन प्रभु का महान् यशस्वी नाम है, उसकी उपमा कहीं नहीं है। उसका वर्णन 'हिरण्यगर्भ, आदि मन्त्रों से, 'मामाहिसीत्' इस मन्त्र से तथा 'यस्मान्न जात 'इत्यादि मन्त्रों से किया जाता है।"

पुराणों में तो अपार नाम महिमा है। सभी जाति, सभी धर्म एवं सभी देश के सन्तों ने नाम की प्रशंसा की है। सन्त ज्ञानदेव कहते हैं—

"नाम-संकीर्तन करते-करते ज्ञानदेव जब निर्णयात्मक समाधि लगाकर बैठा तब उसने हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए वरदान मांगा—

वृत्तियों सहित मेरा अहंकार लुप्त हो, मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति में निवृत्ति की छाप पड़ने दे। मेरा मन तेरे चरणों में रहने दे, मेरे दे हेन्द्रयादि सब तू ही बन जा, मेरी कीर्ति मत बचने दे। दया क्षमा शान्ति रूप सिद्धि भी मुझे उपाधि रूप प्रतीत होने लगी है। इसलिये मुझे केवल तेरे नाम की समाधि प्राप्त हो।" दूसरी जगह वे कहते हैं—"तत्व ज्ञान की चर्चा करके अनेकों ने अनेक तत्व खोज निकाले हैं लेकिन नाम सर्वश्रेष्ठ और सर्व सुलभ तत्व है।' इसलिये अन्य मार्ग छोड़कर अन्तः करण पूर्वक वाणी से नाम-जप चलता रहे, ज्ञानदेव तो निरन्तर अन्त: करण में मौन पूर्वक हरिनाम जपता रहता है। सांख्य-मार्ग द्वारा पचीस तत्वों का विश्लेषण करें, लेकिन इतना करने पर भी अन्त में तत्वसार रूप हरि को प्राप्त किया, तभी कहा जायगा कि विश्लेषण की कला सधी। नाम स्मरण में ऐसा कोई झंझट नहीं है क्योंकि वहां आरम्भ से ही भगवान से सम्बन्ध है। योगमार्ग से प्राण ऊर्ध्वगामी करके, अनाहत स्वरूप अजपा का जप करें, लेकिन वह भी मन के निश्चय के बिना नहीं सधेगा। नाम स्मरण में तो मनका निश्चय पहले से ही है, इसलिये नाम-स्मरण ही पन्थराज है। उसके बिना जीवन व्यर्थ है।" शरीर जायगा, सम्पत्ति जायगी सृष्टि जायगी, आखिर काल भी जायगा परन्तु ईश्वर का नाम नहीं जायगा क्योंकि प्रभु जो सबका मूलाधार है, अपने अधिष्ठान पर सनातन खड़ा ही है तथा वह और उसका नाम, एक ही है।" परमज्ञानी, परमयोगी सन्त ज्ञानदेव आगे कहते हैं—'ईश्वर का नाम साधना के लिये बीज-रूप होने के कारण प्रारम्भ से अन्त तक, सभी भूमिकाओं के लिये, हर भूमिका के अनुरूप उपयोगी है। इसलिये शंकर जैसे ज्ञानी, ध्रुव प्रहलाद जैसे भक्त और सामान्य अज्ञानी जीव नाम का आश्रय लिया करते हैं।

ज्ञानदेव ने एक बार निवृत्तिनाथ से पूछा—

"आकाश सबसे व्यापक है,
आकाश से क्या व्यापक है?"

निवृत्तिनाथ ने उत्तर दिया—

"आकाश से नाम व्यापक है।"

आगे ज्ञानेश्वर जी कहते हैं—

"जिह्वारूप धनुष में हरिनाम का तीर लगाकर तन्मयता से निशाना साधिये, कि व्यापक तत्व हस्तगत हुआ, और प्रेमरूप वैकुण्ठ बिलकुल समीप, याने हृदय में दिखाई देने लगता है।" सन्त शिरोमणि श्री ज्ञानेश्वर जी गीता की टीका में 'राजविद्या राजगुह्य' प्रकरण के अन्तर्गत कहते हैं—"महात्मा हरि कीर्तन के लिये प्रेम से श्रृङ्गार करके नाचते हैं। कीर्तन उनमें पापों का नाम भी नहीं रहने देता। वे मनोनिग्रह तथा बाह्येन्द्रियनिग्रह को निस्तेज कर देते हैं तीर्थ अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं। यम कहने लगता है—कि हम किसका नियमन करें, दम कहने लगता है कि किसे जीतें? तीर्थ कहने लगते हैं कि हम किसका उद्धार करें क्योंकि दोष जो थे वे दवा के लिये भी नहीं बचे?

ऐसे सन्त प्रभात हुए बिना ही जीवों को प्रकाश प्राप्त करा देते हैं। अमृत के बिना ही प्राणियों के जीवन का रक्षण करते हैं और योग साधना के बिना ही मोक्ष को आँखों के सामने खड़ा कर देते हैं। वे राव-रंक में भेद नहीं करते। वैकुण्ठ को जाने वाला क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है। इन साधुओं ने तो यहीं सब जगह वैकुण्ठ ला दिया है।" कबीरदास जी का अनुभव है कि नाम के प्रति रत्ती भर अनुराग भी जीवन को सार्थक कर देता है—

नाम जो रत्ती एक है पाप जो रत्ती हजार।
आध रती घट संचरे जारि करे सब छार॥

दादूदयाल जी तो यहाँ तक कहते हैं कि मुख से सिवा नाम के और कुछ निकलना ही नहीं चाहिए—

राम तुम्हारे नाम बिन जो मुख निकसे और
उस अपराधी जीव को तीन लोक नहि ठौर
नाम न आवे तब दुखी आये सुख सन्तोष

'दादू' दुख सुख नाम का दूजा हरख न सोक
दादू हरि का नाम जल में मछली ता मांहि
संग सदा आनंद करे बिछुरत ही मरि जांहि
प्रीति जो मेरे पीव की पैठी पिंजर मांहि
रोम-रोम पिउ पिउ करे 'दादू' दूसर नांहि

सन्त तिलक तुलसीदासजी ने नाम-महिमा पर जो अपने भाव-पुष्प चढ़ाये, वे अद्वितीय हैं। उनकी सुगन्ध सर्वोपरि है, वे कहते हैं—

हिय निरगुन नयननि सगुन रसना राम सुनाम
मनहु पुरट संपुट लसत 'तुलसी' ललित ललाम।

और अन्त में उन्होंने नाम महिमा की सीमा करदी—

कहौं कहां लगि नाम बड़ाई,
राम न सकें नाम गुन गाई।

परम गुरुदेव पूज्य श्री बड़े महाराज जी को नाम के प्रति जो अगाध श्रद्धा, अखण्ड निष्ठा, अपूर्व विश्वास एवं अनन्य अनुरक्ति थी वह अत्यन्त अद्‌भुत थी। अब तक हम जितने सन्तों की जीवनियों में नाम के प्रति जो भाव सुनते आये हैं, जो चमत्कार सुनते आये हैं वह सब कुछ बड़े महाराज जी में था। करह की तपःस्थली का एक-एक वृक्ष, वृक्ष का एक-एक पत्र उनके नाम प्रेम का साक्षी है। रात दिन अखंड नाम जप चलता था। कभी कीर्तन के रूप में कभी जप के रूप में और कभी स्मरण के रूप में नाम महाराज उनके पवित्र ओठों में, उनके सुकण्ठ में और उनके हृदय में विराजते रहते थे। उनके पास चाहे कोई कितना ही बड़ा आदमी जाता, और चाहे किसी भी समय जाता वे राम-नाम कीर्तन में ही संलग्न मिलते, जो जाता उसे भी लगाते। न वहां लम्बे कुशल प्रश्न और न दिखावटी शिष्टता का अभिनय। पर-निन्दा और परचर्चा का अवकाश ही कहां? यदि कोई लौकिक प्रश्न करता भी तो 'राम जी की लीला है', 'वे ही जानें' भैया, भगवान से प्रार्थना करो' आदि ऐसे ही नपे-तुले वाक्यों में उत्तर समाप्त हो जाता था।

पता नहीं, राम-नाम कहते में उन्हें कितना आनन्द आता, कितना रस आता था। यह तो वही जानें, पर देखने वाले जानते हैं कि जब वे कीर्तन करते, या अकेले नाम जप करते तो नाम-रस-पान करता हुआ उनका मुख, ऐसे रसका, ऐसे स्वाद का अनुभव करता हुआ दृष्टि-गोचर होता था मानो कोई कई दिनों का बुभुक्षित रसगुल्ला खाने के बाद मुख में इधर उधर जीभ चला रहा है। उनके मुख को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता था। यदि दिन भर कीर्तन होता तो दिन भर आसन पर बैठे झूमते रहते थे। साधारण लोग नाम के उस स्वाद को क्या जानें? तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है—

तुलसी जौलौं जगत की मुधा माधुरी मीठ।
तौलौं सुधा सहस्र सम राम भगति सुठि सींठ।

उन्हीं की भावना के अनुसार करह के मुख्य वृक्षों में सभी दीवालों पर, मन्दिरों में सर्वत्र राम-नाम अङ्कित किया गया। महाराज जी का विश्राम-स्थान कीर्तन-भवन था। उसमें सर्वत्र रामनाम अङ्कित था। एक चौकोर प्रस्तर पर रमणीय वर्णों में रामनाम लिखा था जिसे अर्चा विग्रह की तरह महत्व दिया जाता था। महाराज जी प्रतिदिन उसकी वन्दना करते थे। आश्रम पर जब कोई कठिन समस्या आती तो राम-नाम महाराज से ही विनय करते थे। एक बार की बात है। उस समय महाराज जी परमहंस वृत्ति में थे। परन्तु आश्रम पर कुछ सन्त रहने लगे थे। भगवान की सेवा पूजा भी होती थी। अभ्यागत या वहीं रहने वाले सन्तों के लिये भोजनादि की व्यवस्था रामभरोसे होती थी। आय का कोई साधन था नहीं। जब कहीं से आ जाता, कोई दे जाता तो भगवान का भोग लगता था। एक बार ऐसा हुआ कि कहीं से कुछ नहीं आया। साधु भूखे थे। आषाढ़ का महीना था। घोर गरमी पड़ रही थी। ऐसे समय में सन्त भूखे रह गये। हां, राम नाम रस का पान अवश्य होता रहा। शाम के लगभग ६ बजे होंगे। सन्त सायं कृत्य के लिये उठ गये। महाराजजी आसन से उठे और सीधे 'कीर्तन-भवन' में पहुँचे। वहां और कोई नहीं था केवल

मनीरामदास पुजारी एक तरफ बैठा था । महाराज जी गये और जहाँ राम-नाम लिखा था, बैठ गये । कहने लगे-हे श्री राम नाम महाराज ! आज मन्दिर में भोग नहीं लगा है, आपके सब सन्त भूखे हैं, कृपा करो" हाथ जोड़कर यह कहते तथा अङ्कित राम नाम का स्पर्श करते थे । निवेदन करके साय कृत्य के लिये गये । निवृत्त होकर अपने आसन पर आ विराजे । इतने ही में नूराबाद के मोतीराम और रघुवरदयाल दोनों भाई घी, आटा दाल आदि सामान लेकर आ पहुँचे । बड़े महाराज जी से कहने लगे—'आप तो हम से भी पहले आगये ?" पास में छोटे महाराज जो बैठे थे । उनसे कहा—'महाराज ! आपको तो ऐसा नहीं करना चाहिए था कि थोड़े से आटा दाल के लिये बड़े महाराज जी को नूराबाद भेज दिया ।" किसी भी साधु को भेज देते । क्या हम लोग आटा सामान न देते कि बड़े महाराजजी को भेजा ? यह बात तो अच्छी नहीं ।" मोतीराम की बात सुनकर बड़े महाराज जी मुसकरा रहे थे और छोटे महाराज जी आश्चर्य चकित ! मोतीराम ने कहा—खैर, हमारे तो बड़े भाग्य थे, हमारा तो घर पवित्र हो गया कि वहाँ बड़े महाराज जी पधारे । चरणों की पावन धूल पड़ गयी ।" छोटे महाराज जी ने कहा—"महाराज जी को न किसी ने भेजा और न वे नूराबाद ही गये, वे तो धुन से उठकर निवृत्त होने गये और अभी-अभी आके यहाँ बैठे हैं । नूराबाद कब गये ? मोतीराम और रघुवरदयाल दोनों भाई चकित थे कि यह क्या बात है ? आज दोपहर के बाद बड़े महाराज जी हमारे घर पर पधारे थे । और बिलकुल साक्षात् इसी रूप में । हम लोगों से कहा था कि करह पर आटा सामान शीघ्र ले चलो, साधु भूखे हैं ।" लेकिन आप कहते हैं, महाराज जी गये ही नहीं !" बड़े महाराज जी बोले—'भैया राम जी की लीला है ? उन्हींने कोई लीला की होगी ।' प्रसाद बना, साधुओं की पंगत हुई । मनीराम दास पुजारी ने पूछा—'महाराज जी यह क्या लीला है ?' बोले—ए रे मनोराम दास ! हमारे राम तो यही हैं, हम

नूराबाद काहे को गये, यह तो भैया, राम नाम महाराज की लीला है ।"

सोते में भी नाम जप

निरन्तर का नाम जप, उनके रोम-रोम में रम गया था । उनकी साँस-साँस में राम नाम की लहरें उठती थीं । पूरे दिन तो नाम कीर्तन, नाम जप करते ही थे पर शयन के समय भी भगवन्नाम का जप चलता रहता था ।

एक समय की बात है । भादों का महीना था । जन्माष्टमी का उत्सव समाप्त हो चुका था । रात के १२ बजे के पश्चात् मनीराम-दास पुजारी छोटे महाराज जी की चरण सेवा करके लौटा । जब वह 'सन्त निवास' के सामने से निकला तो संत निवास के सामने सीढ़ियों पर एक लम्बा सर्प चढ़ता जारहा था । उसकी फुफकार और सन-सनाहट का शब्द सुनकर पुजारी चौंका । पैर पड़ने से जरा ही बच गया । मनीरामदास शीघ्र बड़े महाराजजी के समीप आया । बड़े महाराज जी सोये हुए थे । उनके सिरहाने भक्त लोग टार्च रखदेते थे कि रात में उठें तो प्रकाश करलें । पुजारी टार्च लेने गया पर महाराज जी को सोते देख बिना आज्ञा के कैसे उठाता ? एक मिनट तक खड़ा रहा । पर पुजारी यह देखकर आश्चर्य चकित रह गया कि महाराज जी सोरहे हैं परन्तु उनके मुख से मधुर-मधुर रामध्वनि निकल रही है । पुजारी ने टार्च उठाली, अपना कार्य किया, प्रणाम कर जा सोया । प्रातः जब चरण वन्दना करने आया तो महाराज जी से रात की घटना सुनाई । सुनकर बड़े महाराज जी मुसकराये और बोले—ए रे मनीरामदास ! रामजी की लीला है ।'

मनीरामदास ने पूछा—'महाराज जी, रामनाम में विश्वास कैसे हो, कैसे सदैव नाम जप हो सके ? महाराज जी ने कहा—"भैया, यह

कहने सुनने की बात नहीं है, हृदय से अनुभव करने की वस्तु है। विश्वास से नाम जप करो, या नाम जपकरो, विश्वास हो जायगा। धीरे-धीरे सब होता है।' ए रे मनीरामदास ! तुम तो राम-जानकी जी के प्रेमी हो।

सिंह भाग गया

जब कभी कोई भक्त पूज्य श्री बड़े महाराज जी से अपना दुःख सुनाता तो वे बड़ी सहानुभूति से सुनते थे। और कभी स्वयं पूछते थे। जंगलात का एक ठेकेदार था 'ईश्वर के झरना' पर उसका काम था। वहीं झोंपड़ी बना के रहता था। उसकी झोपड़ी झरने से लगभग एक फर्लांग की दूरी पर थी। पीने का जल झरने से आता, स्नानादि भी वहीं होते थे; परन्तु 'ईश्वर का झरना' भी बड़ा निर्जन स्थान है। काफी जंगल है। उस झरने पर एक सिंह आने लगा। सिंह झरने पर पानी पीता, पानी में लोटता, घन्टों वहीं रहता था। उसके डर से झरने पर जाना बन्द होगया। पानी का बड़ा दुःख ! बेचारा ठेकेदार बड़े महाराज जी के पास आया। चुपचाप घण्टों बैठा रहा। चाहता था कि अपना कष्ट बड़े महाराज से सुनादे, पर संकोच वश कहने का साहस नहीं होरहा था। बड़े महाराज जी जैसे समझ गये। उन्होंने पूछा—'कहो भगत ! क्या बात है ? 'भगत की तो जान में जान आगयी। वह बोला—महाराज जी आप तो अन्तर्यामी हैं, फिर भी पूछते हैं ? ईश्वर के झरने पर रहता हूँ। ठेके का काम है, पर एक सिंह प्रतिदिन झरने पर आता है। उसके मारे हम लोगों को पीने के लिये पानी मिलना दुर्लभ होगया है। यदि पानी पीकर चला जाया करे तब भी कोई बात नहीं, वह तो घण्टों वहीं रहता है। हम लोग पानी के लिये तरसा करते हैं। यदि कुछ छेड़खानी करें तो जान से हाथ धोना पड़े। अब आपकी शरण में आया हूं। ऐसी कृपा कीजिये जिससे उस शेर का वहाँ आना बन्द होजाय। महाराज जी बोले—

'भैया वे तो नरसिंह भगवान है, वे ऐसे किसी से नहीं बोलते। लेकिन तुम्हें डर लगता है तो ऐसा करना कि जब सिंह पानी पीने आवे तो तुम डरना नहीं। तुम उसके पास जाकर इतने जोर से 'जै जै सीताराम' कहना कि शेर के कानों में पड़ जाय बस फिर कभी न आयेगा ! महाराज जी के इन वचनों पर विश्वास करके साहसपूर्वक उसके समीप राम नाम कहना भी बड़े साहस का काम था परन्तु उसे विश्वास हो गया। ठेकेदार ने वैसा ही किया और सिंह राम नाम की ध्वनि सुनकर वहाँ से गायब हो गया। फिर कभी नहीं दिखाई दिया। यह था उनका नाम के प्रति अटूट विश्वास ! यह घटना स्वयं ठेकेदार के द्वारा ही ज्ञात हुई। आये दिन इस प्रकार की विश्वासवर्धक घटनाएं हुआ ही करती थीं। पूज्य श्री बड़े महाराज जी का साधनामय जीवन ऐकान्तिक था पर सामूहिक जीवन कीर्तनमय बन गया था। अनवरत भगवन्नाम का उच्चारण उनके मुख से होता था। जो उनके समीप गया उसे भी कीर्तन का रंग लगा देते थे। आज भी गायें चराने वाले ग्वाले, खेलते हुए गाँवों के बालक, घर में काम काज करती हुई स्त्रियाँ उनके सरल एवं दिव्य कीर्तन को गुनगुनाती रहती हैं। उनके सरल एवं सिद्ध कीर्तन के बोल हैं—

"सीताराम, सीताराम,
सीताराम जय सीताराम।"

नाम महिमा की जितनी भी अद्भुत कथाएं सुनते उन सब पर उनका पूर्ण विश्वास था। कोई भी ऐसा असम्भव कार्य नहीं था जो नाम से नहीं हो सकता था। इस सम्बन्ध में उन्हें तनिक भी सन्देह नहीं था। हाँ, वे चमत्कार दिखाने के पक्षपाती कभी नहीं थे। उनका विश्वास था कि साधु के लिये सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। सिद्धि, साध्य नहीं होती। सिद्धियाँ तो साधन के मार्ग में घास-फूस की तरह तमाम उगती हुई मिलती हैं—उन्हीं की ओर देखने से साधु-मार्ग से च्युत हो जाने का

सदा भय रहता है। एक बार लेखक ने स्वयं पूछा था कि महाराज जी! आपको सिद्धियाँ तो प्राप्त हो गयी होंगी? इस पर हँसे और बोले—अरे भैया, वह तो बड़े-बड़े साधु सन्तों को मिलती हैं। हम तो नाम के सहारे दिन काट रहे हैं "वह प्रेम और विश्वास हम में कहाँ है?" महाराज जी का यह कथन मानों हम लोगों की ओर संकेत करता था। उनकी दृष्टि में तो सिद्धियाँ खेला करती थीं। एक घटना है। अगहन का महीना था। अगहन शुक्ल पक्ष की पंचमी, विवाह-पंचमी होती है; क्योंकि उस तिथि को श्री रामचन्द्र जी महाराज का विवाह हुआ था। उस समय करह स्थान के मन्दिर में मनीरामदास पुजारी पूजा करता था। जब विवाह-पंचमी के आने में एक-या-दो दिन शेष रह गये थे तो पुजारी महाराज जी के समीप रात में गया। बड़ी देर तक बैठा रहा। बड़े महाराज जी ने पूछा—'क्यों पुजारी क्या बात है? पुजारी ने कहा—'महाराज जी, परसों विवाह पंचमी है? पूछा—"भैया उस दिन क्या होता है, तुम्हें क्या चाहिए?" पुजारी ने कहा—'फूलमाला, फल, मेवा पंचामृत तथा पँजीरी, यही सब होता है। उत्सव मनाया जाता है। भगवान का भोग लगता है; साधुओं की पंगत होती है। मिथिला और अयोध्या जी में इसी तरह मनाया जाता है, महाराज जी ने कहा—'ए रे पुजारी, भैया तू भगवान से प्रार्थना करके सोजा, वही सब करेंगे।" मनीरामदास पुजारी चरण-स्पर्श करके गया और भगवान की प्रार्थना कर जा सोया। प्रातः ४ बजे उठा और महाराज जी के चरण छूने पहुँचा। बड़े महाराज जी ने कहा—कौन, मनीरामदास है? "जी हाँ महाराज जी"—पुजारी ने उत्तर दिया। बड़े महाराज जी उठे और प्रातः भ्रमण के लिये चले गये। मनीरामदास ने महाराज जी का आसन समेटा। जैसे ही आसन उठाया वैसे ही वहाँ कई नोटों को देखकर पुजारी का चेहरा खिल गया! गिने तो पूरे सौ के नोट थे!

सामान आया। खूब प्रसाद बना, भगवान् का भोग लगा, महात्माओं की पंगत हुई, पुजारी के नयनों से आनन्द के मोती बिखरने

लगे। बड़े महाराज जी के चरणों में गिर पड़े महाराज जी ने कहा—'भैया, रामजी की लीला है, वे ही सब कर रहे हैं।"

युगल नाम का कीर्तन

अस्मदाशविषयेऽपि विशेषे
रामनाम तव धाम गुणानाम्
अन्वबन्धि भवतैव तु कस्मात्
अन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि।

—नैषधीय २१-११५

अर्थ—'यद्यपि हम उसके विशेष वैशिष्ट्य से अवगत नहीं हैं' फिर भी हे प्रभो! आपका रामनाम सब से अधिक गुणों का धाम है; यदि ऐसा न होता तो आप इसी नाम से दाशरथि राम, परशुराम एवं बलराम ये तीन अवतार ग्रहण क्यों करते?"

यों तो प्रभु के सभी नाम मङ्गलमय हैं, मधुर हैं अघनाशक हैं। सभी में अपार सामर्थ्य है, अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, परन्तु उच्चारण के द्वारा उस अपरिमित शक्ति-पुंज का स्फुरण जितना रामनाम के द्वारा होता है वैसा अन्य से नहीं। गीता में कहा है—'ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म, ओम, यह एकाक्षर ब्रह्म है। उपनिषदों में प्रणव की अपार महिमा है। प्रणव व्युत्पत्ति एवं उच्चारण की दृष्टि से रामनाम से अभिन्न है। इसीलिये तुलसीदास जी ने रामनाम की महिमा में कहा है—

"बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो"

संस्कृत का ग्रन्थ 'महारामायण' तो दो कदम आगे और भी बढ़ जाता है। उसका कथन है—

"रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः"

"मोक्षदायक प्रणव की उत्पत्ति भी राम नाम से ही हुई" निःसंदेह राम नाम की बड़ी महिमा है। वैयाकरण लोग भी 'रमन्ते योगिनो-

यस्मिन्' जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं। इसी अभिप्राय से तुलसीदास जी ने मानस में यह बताया कि प्रभु के नामों में 'राम' सर्वश्रेष्ठ है। नारदजी श्रीराम से वरदान के रूप में इसी भाव की पुष्टि कराते हुए कहते हैं—

राका रजनी भक्ति तव रामनाम सोइ सोम
अपर नाम उडगन विमल वसो भगत उर व्योम।

वैसे जो जिस रूपका उपासक है उसके लिये उसी का नाम सर्वश्रेष्ठ है पर तात्विक दृष्टि से, सारल्य की दृष्टि से तथा उसके उच्चारण में नाभिस्पर्शी उठने वाले नाद की दृष्टि से शास्त्रों ने एवं अनुभवी सन्तों ने रामनाम को नाम शिरोमणि कहा है। उसे परम रमणीय कहा है, अनन्य कृष्णोपासक श्री सूरदास जी ने भी 'बड़ी है रामनाम की ओट' कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने रामनाम की महिमा गाते हुए कहा है—

अदभुत राम नाम के अंक,
धर्म अंकुर के पावन दल है मुक्ति वधू ताटंक।
मुनि मन-हंस पच्छ जुग, जाके बल उड़ि ऊरध जात
जनम मरन काटन को कर्तरि तीछन बहु विख्यात
अंधकार अज्ञान हरन को रवि ससि जुगल प्रकास
बासर निसि दोउ करें प्रकासित महा कुमग अनयास
दुहूँ लोक सुख करन हरन दुख वेद पुराननि साखि
भक्ति ज्ञान के पंथ सूर ये प्रेम निरंतर भाखि।

पूज्य श्री बड़े महाराज जी रामोपसक तो थे ही अतः रामनाम का जप, रामनाम का कीर्तन उनका सर्वस्व था—उनका लक्ष्य था। रामनाम से इतनी लौ लगी थी कि देरतक लगातार यदि कोई कथा कहता तो उतने प्रसन्न नहीं होते थे।

रामनाम उनका सर्वस्व था। वही उनकी सिद्धि, वही उनका साधन था। तरह-तरह के रङ्ग-बिरंगे कीर्तन तो उन्हें प्रिय नहीं थे। और वास्तव में यह ठीक भी था। यह तो वहिरङ्ग वृत्ति के लोगों के

लिये ही आवश्यक होता है। किन्तु निष्ठावान सन्त के लिये एक लक्ष्य एक नाम, एक रूप, एक भावना ही सुखद होती है। पूज्य महाराज जी केवल 'सीता राम' नाम का जप करते, उसीका कीर्तन करते। बीच में कोई और-और कीर्तन करने लगता तो कहते—'अरे भैया, कीर्तन एक नाम का ही अच्छा होता है, भौंरा बनना अच्छा नहीं मछली बनना अच्छा है।' किसी समय कोई वृन्दावन के भक्त पधारे। सीताराम नाम की ध्वनि हो रही थी। उन्होंने 'सीताराम' धुन के साथ राधेश्याम कहना शुरू किया। परन्तु जब बड़े महाराज जी ने एक ही नाम का कीर्तन करने का संकेत किया तो उस साधु को बड़ी ठेस लगी। वह चुप हो गया। महाराज जी समझ गये कि साधु को दुःख पहुँचा है, उसी दिन सायंकाल के समय एक मस्तराम संत आ पहुँचे। महाराज जी अपने आसन 'पटिया' पर बैठे थे। ठीक उनके सामने मस्तराम जा खड़े हुए और बड़े महाराज जी से पूछने लगे— 'करह वाले बाबा कौन हैं? बड़े महाराज जी ने नम्रता से कहा— 'सन्त भगवान की क्या आज्ञा है? "हम उनसे शास्त्रार्थ करेंगे, वे कृष्ण नाम को गौण कैसे समझते हैं? मस्तराम बोले। महाराज जी ने कहा—"कृष्ण भगवान का नाम गौण कैसे हो सकता है? ऐसा तो नहीं समझा जाता।" मस्तराम ने कहा—"तब आप आजसे सीताराम नाम के साथ राधेश्याम नाम को भी कीर्तन में सम्मिलित कीजिये।" बड़े महाराज जी ने उनके हाथ जोड़े और उसे भगवान की आज्ञा मानकर शिरोधार्य किया। तब से स्थान पर 'सीताराम' नाम के साथ 'राधेश्याम' नाम का भी कीर्तन होने लगा। रामलीला के साथ कृष्ण लीला का भी प्रबन्ध किया जाने लगा। वस्तुतः प्रभु के दोनों नाम, दोनों रूप अभिन्न हैं। ब्रजभूमि के परम सन्त एवं परम रसिक श्री नारायण स्वामी ने अपनी वाणी में कहा है—

'नारायन' दोउ एक हैं रूप रंग छबि रेख।
उनके नयन गंभीर हैं इनके चपल विसेख॥

विशेष चपलता को छोड़ कर सब बातों में मेल है। कैसी सुन्दर

भावपूर्ण बात कही। अष्टछाप के महान् भक्त-कवि श्री नन्ददासजी ने कहा है—

रामकृष्ण कहिए उठि भोर
अवध ईस वे धनुष धरे हैं, यह ब्रज माखनचोर।
उनके छत्र चंवर सिंहासन भरत सत्रुहन लछिमन जोर।
इनके लकुट मकुट पीताम्बर नित गायन सँग नंदकिसोर॥
उन सागर में सिला तराई इन राखो गिरि नख की कोर।
'नन्ददास' प्रभु सब तजि भजिये जैसे निरखत चन्दचकोर॥

सन्त ज्ञानेश्वर जी ने भी बड़े ही मनोरम भाव प्रकट किये हैं। वे कहते हैं :—

"राम और कृष्ण भगवान के ये दोनों नाम अति सुन्दर हैं—एक सत्य मूर्ति एक प्रेम मूर्ति। दोनों मिलाकर एक ही हैं। हृदय-मन्दिर में उसकी स्थापना कर, ताकि बन्धन सारे टूट सकें और तेरी ही शक्ति से तेरा छुटकारा हो। ध्यान करते समय ज्ञानदेव वाणी से ये नाम जपता है और हृदय में उभयरूप-मण्डित श्री मूर्ति का चितन करता है।" इस दृष्टि से करह का साधु मण्डल अत्यधिक उदार एवं सहनशील है। किसी भी सम्प्रदाय का कोई भी साधु वहाँ जाके देख सकता है।

नरसिंह-शिला पर

बहती गंगा में हाथ धोने की कामना प्रायः सभी के मन में रहती है। लोक के सम्मुख वह कभी नग्न रूप में आती है तो कभी सुसज्जित वेष-भूषा में। उससे प्रेरित मानव कभी परोपकारी प्रतीत होता है तो कभी सेवक। किन्तु उसके उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आता। बात कुछ ऐसे ही व्यक्ति के सम्बन्ध में है। मुरेना के एक भगतजी थे। करह पर वर्ष में वह चार बार आते थे। पूज्य बड़े महाराजजी तो सबका सम्मान करते थे फिर सन्त ब्राह्मण की तो बात ही क्या? उनका तो

वे अत्यन्त आदर करते थे। भगत जी का भी आदर होता था। वे कथा कहते तो बड़े मनोयोग से सुनते थे, उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करते थे। एक बार भगत जी ने 'हड़पुरा' गाँव में कथा बाँची। कथा का कार्यक्रम सात दिन का था। उनके मन में इच्छा जगी कि यदि करह वाले बाबा महाराज सात दिन तक मेरी कथा में आ विराजें तो कंचन बरसे।" वे करह पर पहुँचे। बड़े महाराज जी ने आदर किया तो उनका साहस और बढ़ गया। उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की, हड़पुरा चलने का आग्रह किया किन्तु महाराजजी ने मना कर दिया। क्योंकि महाराज जी उस समय कहीं नहीं जाते थे। भगत जी मन मसोस कर रह गये। वे हड़पुरा लौटकर गये। वहाँ लोगों से कहा कि 'यदि तुम लोग इस गाँव को पवित्र करना चाहते हो, कथा को सफल और जीवन को सार्थक करना चाहते हो तो करह वाले बाबा को बुलाने चलो'। फिर क्या था, भोली जनता का मुँह ठहरा! जिधर उठ गया, उठ गया! गाँव से दो तीन सौ आदमी करह की ओर चल पड़े। किन्तु बड़े महाराज जी को सब कुछ पहले ही मालुम हो गया। वे चुपचाप उठकर 'नरसिंह-शिला' पर चले गये। नरसिंह-शिला करह की खोह से ऊपर लगभग एक मील दक्षिण की ओर 'करखोहा' की तरफ है। वह ऐसा स्थान है, जहां दिन में भी सिंह बाघ बैठा करते हैं। महाराज जी उन्हीं विकट शिला-खण्डों में जा बैठे। उन्हें भला किसका डर?

उधर भगत जी अपने दल बल के सहित करह पर पहुँचे; किन्तु महाराज जी गायब थे! अत्यन्त निराश होकर लौट गये। इधर एक और विचित्र बात हुई। लश्कर का एक भगत महाराज जी के दर्शनार्थ करह की ओर गया। साथ में महाराज जी के लिये प्रसाद लिये हुए था। संयोग की बात है कि वह मार्ग भूल गया। जंगल तो ठहरा ही! लेकिन उसका भूलना सार्थक हो गया। वह मार्ग भूल कर वहाँ पहुँचा जहाँ महाराज जी विराजमान थे। वह तो कृतार्थ हो गया। महाराज जी को प्रसाद पवाया। उसकी कामना पूर्ण हो गयी। एक

खोजने आये वे न पा सके किन्तु एक भूला हुआ उन्हें पा गया। यह थी उनकी लीला !

तीन दिन तक महाराज जी नरसिंह-शिला पर रहे, तमाम गाँवों में समाचार फैल गया कि बाबा महाराज ने स्थान छोड़ दिया। कई गाँवों के लोग पता लगा कर नरसिंह-शिला पर पहुँचे। सबने प्रार्थना की कि वहीं करह पर पधारें। अब कोई भी व्यक्ति आपकी इच्छा के विरुद्ध कहीं ले जाने का आग्रह न करेगा। बड़े महाराज जी तो बड़े दयालु थे। वे पुनः करह स्थान पर लौट आये।

अपराधिहू पर कोह न काऊ

करह की व्यवस्था के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन यथार्थ प्रतीत होता है कि :—

जहाँ तहाँ पियहिं विविध मृग नीरा
जनु उदार गृह याचक भीरा,

जिसे कहीं कोई न पूछे वहाँ सानन्द स्थान प्राप्त कर लेता है। कोई प्रतिबन्ध नहीं, कोई रोक-टोक नहीं, किसी नियम विशेष के पालन का आग्रह नहीं था। यहाँ तक कि भगवान की आरती पूजा में भी सम्मिलित नहीं होते थे। कीर्तन में कभी गये तो गये, नहीं तो मस्त पड़े रहे। न कोई चिन्ता न किसी का भय। साधुओं के सम्बन्ध में विविध लोक-प्रवाद तो प्रचलित हैं ही। आज भी कोई माता साधु के सान्निध्य में अपने बच्चे को डराती हुई कहती है—जल्दी भाग आओ, नहीं तो साधू बाबा झोली में धर लेजायेंगे।'' वस्तुतः उनका पता तो चलता नहीं कि सन्त है कि सन्त वेष में छिपा कोई चोर है। तभी तो लोग कहते हैं—'घुटी दवा और मुड़ा साधु' इनकी पहचान कठिन है। इसीलिये चालाक आदमी से कहा जाता है—'बड़ा घुटा हुआ है।' साधु-वेष ऐसा है जिसके प्रति भारतीय जनता में सम्मान है फलतः इस वेष का दुरुपयोग करने वाले क्यों चूकने लगे ! तो जहाँ सज्जन इन वेष को वैराग्य का प्रतीक समझ कर ग्रहण करते हैं वहाँ

असज्जन इसे अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन समझते हैं। इसमें सब खप जाते हैं—'ज्यों हाथी के पाव में सबका पाँव समाय'' राजकीय गुप्त चरों के लिये भी यह अनुकूल है। भारत-भूमिका बाँका वीर 'नेताजी' सुभाष भी इसी वेष के बल पर अंग्रेजों को चकमा देकर भारत से बाहर चले गये थे। कहने का भाव यह है कि यह वेष सिंह का वेष है। पर सिंह की खाल ओढ़ कर गधा भी अपना मतलब गाँठ सकता है और सियार भी। इसमें सिंह-वेष का कोई दोष नहीं। एक इसी प्रकार का साधु करह पर आया। पूछने पर बताया कि वह वृन्दावन से आरहा है। वह दो चार दिन स्थान पर रहा। वहाँ का रङ्ग ढङ्ग देखता रहा और देखता रहा वहाँ की चीजों को। अवश्य ही इस फक्कड़ी स्थान पर से द्रव्य प्राप्ति की आशा तो उसकी पूरी नहीं हुई। हाँ एक दिन आधी रात के समय भण्डारे में घुस गया। वहाँ भी कोई मन चाही चीज न मिली तो उसने एक ओर में लगभग सात पँसेरी आठा भर लिया और चल पड़ा। पर मालुम होता है कि वह तब तक उस विद्या में कुशल नहीं था। यही कारण है कि वह खाँस बैठा उसे यह नीति नहीं मालुम थी कि—'चोरहि खोवे खाँसी'' आटे का वजन अधिक था। उससे दबकर खाँसी चीख उठी। साधुओं की नींद खुल गयी। उसके साथ ही उस बनावटी साधु की कलई भी खुल गई। पकड़ लिया गया। उसे दण्ड देने का निश्चय किया गया। परन्तु वहाँ के प्रत्येक निश्चय पर पूज्य बड़े महाराज जी की स्वीकृति की मोहर लगनी आवश्यक थी। अतः यह बात उनके पास पहुँची। बड़े महाराज जी मुसकरा के बोले—'अरे भैया, साधु वृन्दावन का है, जहाँ का राजा माखन चोर है वहाँ से आकर बेचारे ने आटा चुरा लिया तो कौन अनीति करदी ? साधुओं ने कहा—नहीं महाराज जी, यह साधु नहीं, चोर है, साधु वेष को बदनाम करने वाला है, इसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिए, बड़े महाराज जी ने कहा—'भैया दण्ड तो मिल गया। क्योंकि जितना भाग्य है वह तो उसे मिलता ही। चोरी करने पर भी उतना ही मिलता। उससे अधिक तो मिलता नहीं,

उससे अधिक कुछ मिला तो चोरी की बदनामी मिली, यही दण्ड उसके लिये बहुत है।" पूज्य श्री महाराज जी ने यह बात इतनी तर्क संगत कही कि किसी से कुछ उत्तर देते ही नहीं बना। साधु छोड़ दिया गया। वह लज्जित होगया। सिर झुका के वहाँ से जाने लगा तो बड़े महाराज जी उस पर द्रवीभूत होकर बोले—'अरे सन्त भगवान्! बिना प्रसाद पाये न जाओ। प्रसाद पाके, पंगत करके जाना।" महाराज जी के इन कृपा पूर्ण वचनामृतों से उसके हृदय पर क्या प्रभाव हुआ, वह तो वही जाने; परन्तु हमारी अन्तरात्मा कहती है कि उसके हृदय पर वह प्रभाव पड़ा जो कठोर-से-कठोर दण्ड देने पर भी न पड़ता।

राम सदा सेवक रुचि राखी

एक बार चोर ठाकुरजी के कपड़े चुरा लेगये। मनीरामदास पुजारी ने बड़े महाराज जी से दुखी हो के कहा—महाराज जी, बड़ा अनर्थ हुआ। चोर श्री ठाकुर जी के सब कपड़े उतार लेगये।" महाराज जी हँसे और बोले—ए रे मनीराम दास! लेगये तो कोई बात नहीं। अपने राम तो बनवासी राम हैं। बनवास में राजसी वस्त्र उन्हें अच्छे नहीं लगे होंगे।' पुजारी जी ने कहा—'महाराज जी, मैं तो सिंहासनासीन श्रीराम जानकी युगल सरकार का प्रेमी हूँ' तो बोले—'ए रे मनीरामदास' तो कोई बात नहीं, तेरी भावना ऐसी है तो कपड़े आ जायेंगे।" सचमुच शामको सिले हुए नूतन वस्त्र भगवान के लिये आगये।

इसी तरह की एक घटना और भी हुई। भगवान् के मन्दिर में एक दूसरे पुजारी ने दीपक जलाया। रात में दीपक को जलता छोड़ दिया। जाड़े के दिन थे। भगवान को गद्दा बिछा के रजाई उढ़ा के सुला दिया। रात में चूहों के लिये दीपक खिलौना बन गया। उन्होंने जलती हुई बत्ती घसीट ली, और भगवान से ही विनोद करने पहुँचे। चूहों ने सोते हुए भगवान की रजाई पर जलती हुई बत्ती छोड़ दी। वस्त्र जल गये। जब मनीराम दास पुजारी ने यह देखा तो वह बड़ा दुखी हुआ। बड़े महाराज जी से निवेदन किया तो बोले—'भैया, रामजी की इच्छा का किसी को क्या पता? न जाने कब क्या किया करते हैं इसमें तो उन्हीं की इच्छा है" मनीराम दास को सन्तोष न हुआ। महाराज जी बोले—'ए रे मनीरामदास! अरे भगवान की इच्छा नये कपड़े पहनने की होगी।" मनीराम दास ने कहा—'तो नये कहाँ से आ सकते हैं? आखिर आज रात में तो भगवान को जाड़ा लगेगा? महाराज जी मुसकरा के बोले—'उनकी इच्छा होगी तो शाम तक उनकी रजाई, उनका गद्दा आ जायगा।" शाम को लगभग ६ बजे आमोर से सचमुच ही ठाकुर जी के लिये खूबसूरत रेशमी रजाई और गद्दा आ गया।

शेष दर्शन

जिला मुरेना में मुरेना की लीला बड़ी प्रसिद्ध है। उसके सम्बन्ध में एक जन श्रुति है कि "कलि में आय करौली न देखी और मुरेना की लीला, उस में दूर दूर तक के गांवों का जन समुदाय एकत्र होता है साधु सन्त भी दर्शनार्थ जाते हैं। यह लीला अन्नकूट उत्सव के पश्चात् होती है। करह पर एक मस्तराम सन्त आकर बड़े महाराज जी से आग्रह करने लगे—'महाराज जी, आप भी लीला देखने चलिये।' बड़े महाराज जी ने कहा—'भैया, हम तो उस लीला के कई बार दर्शन कर चुके हैं फिर मेला ठहरा, वहाँ भीड़ भाड़ के सिवा और क्या होता है?

मस्त राम बोले—'महाराज जी! वहाँ लीला के दिन तालाब में से शेष निकलते हैं। सब लोग उनके दर्शन करते हैं, वे भगवान की नाग लीला की याद दिलाकर फिर तालाब में लुप्त हो जाते हैं "मस्तराम यह सब कह ही रहे थे कि इतने ही में पटिया की सन्धि से सचमुच साँप का बच्चा निकल पड़ा। महाराज जी ने उसे प्रणाम

किया और बोले—'अरे मस्तराम ! देख शेष भगवान् यहीं प्रकट होकर दर्शन दे रहे हैं। तुम भी दर्शन करो।" मस्तराम और पुजारी दोनों देखकर सचमुच चकित हो गये। उन्होंने सोचा कि महाराज जी ने मुरेना की लीला की विशेषता यहीं प्रकट करदी। इस प्रकार की बातें आये दिन होती ही रहती थीं।

लक्ष्मी का शाप

पूज्य श्री बड़े महाराज जी के शरीर में खुजली होगई थी, वह बढ़ती ही गयी। बड़ा असह्य कोप था उसका। पर एक बात बड़े आश्चर्य की थी। जब तक वे कीर्तन में बैठे रहते या कथा सुनते रहते, खुजली का पता भी नहीं चलता था। ऐसा लगता था मानों उतनी देर खुजली भी कथा कीर्तन में अपने आपको भूल जाती थी। पर जैसे ही लेटते, खुजली का वेग प्रबल हो उठता था। महाराज जी इतना खुजलाते कि शरीर में चकत्ते पड़ जाते थे। तमाम भक्त लोग रबड़ के बने खुरचना से खुजलाया करते। शरीर सूज जाता था। उस खुजली को शान्त करने के लिये पूज्य छोटे महाराज जी ने सब प्रकार की दवाएँ कराईं। अच्छे-से-अच्छे वैद्य-डाक्टरों को बुलाकर दिखाया, इलाज कराया पर लाभ कुछ भी न हुआ। बड़े महाराज जी ने कहा—एँ रे रामदास, चाहे तू कितना ही इलाज करा पर यह खुजली नहीं जा सकती, यह तो लक्ष्मी मैया का शाप है! इस पर छोटे महाराज जी ने पूछा—'लक्ष्मी मैया का शाप कैसा?' इस पर बड़े महाराज जी ने बताया कि करह पर एक बूढ़ी मैया आई। वह करह पर झाड़ दिया करती थी। एक समय की बात है। वह झाड़ू लगा रही थी। हम भ्रमण के लिये उधर से निकले। बूढ़ी मैया ने हमें देखा तो झाडू रख दी और अंचल के छोर से खोलकर वह चार पैसे हमें देने लगी। हमने मना किया तो अत्यन्त आग्रह पूर्वक कहने लगी-'ले लो, कुछ मोल ले के खा लेना, अरे गाँजा ही पी लेना। हमने

कहा—'मैया, हम गाँजा तो पीते नहीं। बूढ़ी मैया ने कहा--"बड़ा साधु बना है, क्या तुझे किसी चीज की जरूरत नहीं पड़ती? तू खाता नहीं, कि पहनता नहीं? मैं कहती हूँ कि ले ले नहीं तो पछितायेगा!" लेकिन हम उसकी बातों पर हँसते रहे। उसके चार पैसों को हमने नहीं लिया। इससे वह बूढ़ी मैया बड़ी क्रुद्ध हुई और बोली--"जा तेरे कोढ़ हो जाय।" एँ रे रामदास! उसके बाद सचमुच आश्रम पर न एक पैसा चढ़ता न कोई एक पैसा देता था और हमारे शरीर में यह खुजली हो गई। इसलिये हम कहते हैं कि हम पर लक्ष्मी मैया अप्रसन्न है। उसने हमें पैसे देने चाहे थे, हमने नहीं लिये। इस प्रकार पूज्य बड़े महाराज जी ने यह घटना छोटे महाराज जी को सुनाई थी उसके पश्चात् बड़ी यज्ञ का आयोजन होने वाला था। उस समय एक अपरिचित साधु आया, वह बड़े महाराज जी से बोला—"लो यह चौवन्नी, इसे अपने तकिया में रख लो" महाराज जी ने पिछली घटना का स्मरण करते हुए उस चौवन्नी को यह कहके स्वीकार कर लिया कि पहले लक्ष्मी मैया आई, उनका हमने अपमान कर दिया था, इस बार नारायण आये हैं इनका दिया हुआ हम स्वीकार कर लेते हैं" और सचमुच ही बड़े महाराज जी ने उस चौवन्नी को अपने तकिया में रख लिया उन्होंने सोचा—'प्रभु कुछ साधु सेवा कराना चाहते हैं।'

महान संकल्प का उदय

संवत् १९९८ की बात है। आषाढ़ बीता, सावन का महीना भी बीता जा रहा था। ठीक से पानी नहीं पड़ा। आस-पास की खेती सूख चली और उसके साथ ही किसानों की आशाएँ भी मुरझा गईं इस निराशा की कालीरात में आशा की एक किरण चमक रही थी, उन्हें विश्वास था करह वाले बाबा 'का'। पूरा धनेला ग्राम पूज्य परम गुरुदेव की शरण में पहुँचा। पूज्य महाराज जी ने कहा—'भइया, देवता हवन चाहते हैं, पहले समय में हवन होते थे समय पर पानी बरसता था रामदास से पूछ लो, वह जैसा बताये करो, भगवान सब

कृपा करेंगे" सबने छोटे महाराज जी से प्रार्थना की तो उन्होंने कहा— सात दिन का अखण्ड कीर्तन करो, हवन करो, रामजी सब कृपा करेंगे' लोगों ने निवेदन किया कि पशुओं तक को खाने के लिये चारा नहीं है सारा दिन उसी के जुगाड़ में बीत जाता है, कीर्तन किस समय करें ? ढोर भूखे मरेंगे तो कीर्तन में हमारा मन कैसे लगेगा ? हाँ पहले कुछ पानी बरस जाय तो हम लोग आपकी आज्ञा का पालन करने को तैयार हैं, इसके लिये हम सब आपको वचन देते हैं। छोटे महाराज जी ने कहा कि अच्छा फिर जाओ, रामजी महाराज कृपा करेंगे" सब लोगों ने अत्यन्त श्रद्धा और विश्वास से महाराज जी का चरण-स्पर्श किया और वे अपने गाँव की ओर चल पड़े। आधे मार्ग में ही आकाश के एक कोने से उठते हुए मेघ खण्ड में आशा की ज्योति-सी बिजली चमकी और जैसे ही वे सब ग्राम के समीप पहुँचे, गड़गड़ाहट के साथ बादलों ने उनका वर्षा से स्वागत किया। उस साल धनेले ग्राम की इतनी अच्छी फसल हुई कि आस-पास कहीं नहीं हुई, पूज्य श्री बड़े महाराज जी का शुभ संकल्प आश्चर्यजनक रूप से सफल हुआ। आस-पास के समस्त ग्रामों के लोगों ने मिलकर सात दिन का अखण्ड कीर्तन किया। और यज्ञ का आयोजन किया । पं० श्री चतुर्भुज जी पाठक के आचार्यत्व में १३७ पण्डितों ने विष्णुयाग को सम्पन्न किया। रास-लीला का आयोजन हुआ। सत्संग की व्यवस्था की गयी। गाँव वालों ने अत्यन्त उत्साह से सेवा की। उस यज्ञ में जन-श्रद्धा का अपूर्व दर्शन था। करह पर सैकड़ों भण्डारे हुए, कई यज्ञ हुए; परन्तु इस यज्ञ-जैसा प्रबन्ध किसी में नहीं हुआ। सवत् १९९८ की इस यज्ञ में गाँवों से इतना दूध एकत्र हुआ जितना कभी किसी शुभ कार्य में नहीं हुआ। दो-दो-सौ ढाई-ढाई-सौ मन दूध नित्य आता और जिन गाँवों का दूध होता उन्हीं गाँवों के लोग, मधुर पदार्थों से सबको प्रसाद खिलाते थे। लोगों के हृदय में श्रद्धा प्रगट हुई और इधर श्री बड़े महाराज जी के मङ्गलमय मन में एक विशाल यज्ञ करने की प्रभु-प्रेरणा का उदय हुआ। उसकी अभिव्यक्ति भी उनके द्वारा एक विचित्र ढङ्ग से हुई।

महायज्ञ का महासंकल्प

'यज्ञ' शब्द 'यज' धातु से निष्पन्न होता है। 'यज्ञ देवपूजा सङ्गति करण दानेषु' इस पाणिनीय स्मृति के अनुसार यज्ञ धातु का अर्थ है— 'देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान।' अर्थात् यज्ञ के आयोजन में देवताओं की पूजा होती है, ऋषि-महर्षियों या विद्वानों, सन्तों एवं अनुभवियों का सतसंग होता है तथा दान दिया जाता है। इसी के अनुकूल मत्स्य पुराण ने यज्ञ का लक्षण किया है—

"देवानां द्रव्यहविषाम् ऋकसामयजुषां तथा
ऋत्विजां दक्षिणानांच संयोगो यज्ञ उच्यते"

"जिसमें देवता, हवनीय द्रव्य वेदमन्त्र ऋत्विज और दक्षिणा इन पाँचों का संयोग हो उसे 'यज्ञ' कहते हैं।" इस यज्ञ के दो भेद होते हैं- यज्ञ एवं महायज्ञ। जिसका उद्देश्य केवल अपने तक सीमित हो, जैसे कि पुत्रेष्टि याज्ञादि का होता है तो उसे 'यज्ञ' कहते हैं और जिसका उद्देश्य अपने तक सीमित न होकर विश्व कल्याण की भावना से सम्बद्ध होता है वह 'महायज्ञ' कहलाता है। इसीलिये महर्षि अङ्गिरा का कथन है—

"यज्ञ महायज्ञौ व्यष्टि समष्टि सम्बन्धात्"

व्यष्टि सम्बन्ध से 'यज्ञ' और समष्टि सम्बन्ध से महायज्ञ कहलाता है। इस तरह महायज्ञ का सम्बन्ध विश्वकल्याण से है अतः वह निःस्वार्थ होता है। और वस्तुतः निस्वार्थ यज्ञ ही सात्विक यज्ञ है। उसका अनुष्ठान सर्वोत्तम होता है। ऐसे यज्ञों से विश्वकल्याण सम्भव हैं। सारा सृष्टिचक्र ही यज्ञ द्वारा सञ्चालित होता है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः,
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।
—गीता ३।१४

'समस्त प्राणी यज्ञ से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वर्षा

से होती है तथा वर्षा यज्ञ से होती है एवं वह यज्ञ, कर्म से सम्पन्न होता है।" इसीलिये अथर्व वेद का ऋषि कहता है—

यज्ञो विश्वस्य भुवन स्य नाभि :

—९ । १० । १४

'यज्ञ निखिल विश्व की नाभि है—केन्द्र है।" आज के विश्व में अन्तर-राष्ट्रिय विद्वान या राजनीतिक नेता 'पंचशील' की बड़ी चर्चा करते हैं। आस्तिक नास्तिक सभी उस पर बल देते हैं किन्तु आचरण उसके विपरीत ही करते हैं। इस प्रकार उनकी विश्व-शान्ति का नारा अपने स्वार्थ प्रदर्शन का साधन मात्र बन के रह जाता है। किन्तु ऋषियों की विचार-धारा या लोक-मङ्गल की योजना महायज्ञ में ही निहित है। यज्ञ शब्द की शाब्दिक व्याकृति से यही सिद्ध होता है। उसमें प्रथम दैवी शक्तियों की मान्यता, उन्हें आदर देने की भावना है। द्वितीय, परस्पर विचार-विमर्श का आयोजन है, एक दूसरे के विचारों को सुनने समझने का सुअवसर है, तृतीय, द्रव्य दान, विचार दान या सहयोगदान का संकल्प है। यह परिकल्पना ही विश्व कल्याण का पवित्र सूत्र है।

पूज्य बड़े महाराज जी के हृदय में इसी ऋषि-विचार का प्रादुर्भाव हुआ। वे ऋषि कुल में पढ़े न थे। उन्हें किसी लौकिक शिक्षा का अक्षर ज्ञान भी नहीं था! वे परम हंस वृत्ति में रह चुके थे—रामनाम के अनन्य जापक थे। वैदिक विधियों की जटिल बातें वे नहीं जानते थे फिर भी ऋषियों की अमर-भावना से उनका हृदय भावित था।

मध्य प्रदेश के उस विकट भूभाग में साक्षरता अल्प है, फिर भी वहाँ कुछ ऐसे वेदज्ञ विद्वान् हैं जिनकी विद्वत्ता सराही जाती है; पर इसके पूर्व उनमें से कोई भी वह आत्म बल या धर्म बल उत्पन्न न कर सका जिससे महायज्ञ-जैसे महान् कार्य के लिये जन-मन को सन्नद्ध कर सकता। वस्तुत: मतिजन्य या मत जन्य ज्ञान से आत्म-प्रेरणा या जन-प्रेरणा नहीं मिलती। प्रेरक-शक्ति के केन्द्र तो स्वार्थ-निरपेक्ष सन्त ही होते हैं। वीतराग एवं करुणा परायण महान् आत्माओं में ही चुम्बकीय आकर्षण-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। पूज्य परम गुरु देव का करुणा-मृदु मानस ऐसी ही शक्ति का अक्षय भण्डार था। उनके मन में महायज्ञ की प्रबल इच्छा हुई। इस भावना के परिशोधनार्थ उन्होंने अन्न जल का परित्याग कर दिया और इस सम्बन्ध में प्रभु-प्रेरणा का साक्षात्कार करने के लिये एकान्त में अन्तर्मुख हो गये। साधुओं में इसकी प्रतिक्रिया दूसरे रूप में हुई। उन्होंने समझा कि पूज्य गुरुदेव अपना भौतिक शरीर छोड़ देना चाहते हैं। इस विचार से बड़ी खलबली फैली। छोटे महाराज जी उस समय ५०-६० मूर्त्तियों के साथ 'पिछोर' की ओर गये हुए थे। यह घटना संवत् २०००, कातिक महीना की है। छोटे महाराज जी के पास गनेशराम भक्त को भेजा गया। उसने सूचना दी कि 'बड़े महाराज जी ने ७ दिन से कुछ ग्रहण नहीं किया है, केवल श्री ठाकुर जी का प्रात: सायं चरणामृत ग्रहण करते हैं। समस्त भक्त जन दु:खी हैं, आप शीघ्र चलें'। यह समाचार सुनते ही छोटे महाराज जी तत्काल वहाँ से चल पड़े। लश्कर आये। वहाँ से छोटी लाइन के द्वारा बानमोर होते हुए आश्रम पर पहुँचे। पूज्य महाराज जी कोठे के अन्दर भीतर से साँकल बन्द करके भगवत् चिन्तन कर रहे थे। छोटे महाराज जी उसी कोठे के द्वार पर जा बैठे। सारे दिन बैठे रहे, रात होगई किन्तु बड़े महाराज जी कोठे से बाहर न निकले। रात के लगभग तीन बजे होंगे कि महाराजजी अन्दर से निकले। छोटे महाराज जी विह्वल होकर चरणों पर गिर पड़े। बड़े महाराज जी ने उनके मस्तक पर वरद-हस्त रक्खा। लघुशंका करने गये। लौटकर कुल्ला किया। छोटे महाराज जी के नेत्रों से आँसू भर रहे थे। बड़े महाराज जी मौन थे पर उन्होंने कुछ संकेत किया, पर उसका अभिप्राय ज्ञात न हो सका तो छोटे महाराज जी ने प्रार्थना की कि आपका आशय हम नहीं समझ पाये। सब भक्त दु:खी हैं, क्योंकि समझते हैं कि आप शरीर त्यागना चाहते हैं। आप क्या लीला कर रहे हैं, हमारी समझ में कुछ भी नहीं आरहा है, सब लोग हमारे पीछे पड़े हैं, वे जानना चाहते हैं कि महाराज जी की इच्छा क्या

है ? आप स्पष्ट बोलकर हमें आज्ञा प्रदान करें पश्चात् फिर भले ही मौन धारण कर लें।" छोटे महाराजजी की प्रार्थना सुनकर सर्वप्रथम मुख से सीताराम-नाम का उच्चारण किया। उसके पश्चात् छोटे-महाराज जी से बातचीत की। उन्होंने बताया कि हम शरीर नहीं छोड़ रहे हैं। और कहा "मुझे 'संकीर्तन-भवन' में मुस्कुराते हुए श्री राम-लला के दर्शन हुए हैं। उनकी आज्ञा है कि तुम चार महीने तक स्थान पर ही रहो। दोनों महात्माओं—(पूज्य श्री उड़िया बाबा और पूज्य श्री हरि बाबा) को बुलवाओ। और देवताओं की तुष्टि के हेतु हवन कराओ। श्री रामलला इतना आदेश देकर अन्तर्हित हो गये हैं। उसी समय से अन्न जल ग्रहण न करने की प्रेरणा हुई है" यह सब सुनकर छोटे महाराजजी ने प्रार्थना की कि यदि आप कुछ प्रसाद ग्रहण करने लगें तो हम आपक आज्ञा के अनुसार आज से ही कार्य करना शुरू कर दें। महाराज जी ने स्वीकार किया। वे फलाहार ग्रहण करने लगे। छोटे महाराज जी भी फलाहार लेने लगे। अगहन कृष्णा अमावस्या से यह व्रत प्रारम्भ किया गया। छोटे महाराज जी ने १३२ ग्रामों के भक्तों को स्थान पर एकत्र किया और चार महीने का अखण्ड कीर्तन प्रारम्भ किया गया। यह कीर्तन 'कीर्तन-भवन' में होने लगा। कीर्तन के साथ क्रम से एक-एक महीने के लिये स्थानीय वट वृक्ष की सघनच्छाया में वाल्मीकीय रामायण की कथा, तुलसीकृत रामचरित मानस की कथा, श्री देवी भागवत की कथा और श्री आनन्द रामायण की कथा का आयोजन किया गया। इस प्रकार चार महीने तक कथा-कीर्तन का अजस्र प्रवाह बहता रहा। इसके साथ ही आधे लोग कीर्तन करते, आधे लोग सेवा कार्य करते। फलतः उन चार महीनों के अन्तर्गत ही चार मील लम्बी कच्ची सड़कें निर्मित हुईं। प्रस्तर खण्डों को एकत्र कराके सैकड़ों चबूतरे बनवाये गये।

बसन्त के आरम्भ में चैत्र कृष्ण पक्ष में सैकड़ों तम्बू छोलदारी, शामियाने तन गये। सैकड़ों पर्ण कुटीरें निर्मित होगईं। 'करह' का वन प्रदेश सन्तों, गृहस्थ भक्तों एवं सेवकों से भर गया। पूज्य श्री

उड़िया बाबा जी महाराज, पूज्य श्री हरीबाबा जी महाराज, श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती, श्री स्वामी कृष्णानन्दजी, श्री वेदांत केसरी, श्री रघुवराचार्य जी (सींगड़ामठ) श्री रामानुजदासजी, श्री रघुनाथदास जी, मुरैना के श्री तपसीजी महाराज आदि सन्तों के पदार्पण से भूमि धन्य हो गयी। दुर्लभ-दर्शन पाकर लोगों ने भाग सराहे। विविध स्थानों से वेदज्ञ, दार्शनिक, पौराणिक उपदेशक एवं याज्ञिक विद्वान् पधारे। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से दशमी तक के लिये अभूत पूर्व एवं भव्य समारोह का शुभारम्भ किया गया। एक ओर ४७६ कर्मकाण्ड-कुशल वेदज्ञ ब्राह्मणों ने विष्णुयाग का समारम्भ किया।

वेदमन्त्रों के पवित्र उद्‌घोष से समस्त वनस्थली मुखरित हो उठी। श्रद्धा सम्पन्न स्त्री पुरुषों का समुदाय यज्ञ मण्डप की परिक्रमा करता और सहस्रशः दर्शक इस अपूर्व दृश्य से गद्‌गद् हो उठते। दूसरी ओर रामलीला एवं रासलीला का आयोजन था। इसके अतिरिक्त आगत विद्वानों के प्रवचन होते, कथा होती तथा ललित कीर्तन की मधुर ध्वनि होती। मुजफ्फरपुर (बिहार) से बाबू श्री रामेश्वरसिंह पधारे। उनके साथ श्री लीला-स्वरूप थे। उन्हें अलंकृत करके सुन्दर सिंहासन पर बिठाते और उनके सम्मुख-भाव-विभोर होकर वे मिथिला भाषा के ऐसे ललित पद सुनाते कि जन समूह भाव-गङ्गा में डूब-डूब होने लगता था। सारा दिन कब बीत गया, इसका पता ही न लगता था। अपार जन समूह उमड़ पड़ा था। फिर भी किसी को कोई कष्ट नहीं था। बड़ी सावधानी से सबकी व्यवस्था की गयी थी। इस पुण्य कार्य में कर्नल श्री शिवनाथ मिश्र अपने दो सौ फौजी जवानों के साथ दिन रात सेवा कार्य में संलग्न रहे। मुरैना, जौरा, लश्कर, मुरार, धौलपुर तथा आगरा से १२०० स्वयं सेवक पहुँचे। १० दिन तक लगातार लगन से सेवा कार्य में अथक परिश्रम किया। सबसे कठिन कार्य था सबकी भोजन व्यवस्था का। यह कार्य पण्डित गोकुलप्रसाद सेक्रेटरी, सेठ तोताराम, चतुर्भुज हलवाई आदि सज्जनों को सौंपा गया। इन सभी ने भोजनालय की बड़ी अच्छी व्यवस्था की। ऊंटगिरि वाले नारायण-

दास ने कोठार-भण्डार का काम सँभाला और खेरागढ़ के पण्डित नारायण ने सन्तों की सेवा में जल पहुँचाने की सेवा बड़ी सावधानी से की। जन-सम्मर्द इतना अधिक था कि वहाँ के छोटे-छोटे भरने उन्हें पानी पिलाने में असमर्थ थे पर इसकी पूर्त्ति लगभग वहाँ से डेढ़ मील की दूरी पर बहती हुई नदी से की गई। इस कार्य के लिये आगरा के रामबाबू सेठ ने जल लाने के लिये अपना ट्रक दिया। इंजन दिया, जिनके द्वारा नदी से पानी भरा जाता था। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने बहुत सेवा की। लश्कर-म्युनिस्पल बोर्ड ने जल के लिये दो ट्रक दिए जिनसे १० दिन तक जल लाने में बड़ी सुविधा रही। इस प्रकार विष्णु-याग की यमुना, भजन कीर्तनों की गङ्गा और प्रवचनों की सरस्वती ने मिलकर करह की वनस्थली में तीर्थराज प्रयाग की त्रिवेणी का दृश्य उपस्थित कर दिया। १० दिन तक इसके पावन-पर्व में कोटि-कोटि जनता ने स्नान किया। समारोह की समाप्ति के दिन—आस-पास के डेढ़लाख व्यक्तियों ने भोजन किया। ऐसा अद्भुत भोज इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था। बड़े-बड़े जन-प्रिय सन्त आये थे उनके लिये भी यह दृश्य बिलकुल नया था। सामान्य जनता तो श्रद्धा से अभिभूत थी। उसकी दृष्टि में तो स्पष्ट ही यह सब पूज्य बड़े महाराज जी की महिमा का ही चमत्कार था और वास्तव में बात ऐसी थी।

इसी समारोह में 'करह' पर श्री विजय राघव सरकार की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी। अनेक शुभारम्भों का शुभ संकल्प किया गया। कई भक्तों ने दिन रात अनवरत लगकर तन मन धन से सेवा की। यज्ञ में लगभग ढाई लाख रुपया खर्च हुआ। यज्ञ में जो कुछ चढ़ावा चढ़ा उसे सन्तों की विदाई में, ब्राह्मणों की दक्षिणा में दे दिया। निर्धन कन्या के विवाह में लगाया, अन्य दीन-हीनों को देदिया। जो कुछ शेष बचा उसे मन्दिर के निर्माण में लगा दिया। उनके पास न छदाम था न एक छदाम बचाके रक्खा। विलक्षण थे, एक ही थे।

कवित्त—

केश बिन कटा देखे, योगी कन फटा देखे,
सीस भारी जटा देखे छार लाये तन में।
मौनी अनबोल देखे, जैनी सिर छोल देखे,
करते कलोल देखे बन खंडी बन में।
गुणी अरु क्रूर देखे कायर अरु शूर देखे,
माया के अपूर देखे पूरि रहे धन में।
आदि अन्त सुखी देखे जन्म के दुखी देखे,
ऐसे नाहि देखे जिन्हें लोभ नाहि मन में।

जगज्जननी नृत्य कर उठी

उत्सव के मध्य चैत्र शुक्ल पञ्चमी की बात है। भगवान की आरती हुई। स्तुति हुई। जैसे ही कीर्तन का आरम्भ हुआ कि आरती में खड़ी सहस्रों माताएँ नृत्य कर उठीं। पूज्य बड़े महाराज जी अपने आसन 'पटिया' पर विराजमान थे। उन्होंने जब इस दृश्य को देखा तो उनका हृदय एक अपूर्व श्रद्धा से, अद्भुत भाव से भर गया। उन्हें लगा कि नृत्य करती हुई माताएँ साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं इनमें जगज्जननी भगवती का भावावेश है। आनन्दातिरेक से नर्तन करने वाली उन माताओं के मध्य में एक दिव्य कन्या नृत्य कर रही थी। लगता था कि सभी माताएँ एक उसी की प्रेरणा से थिरक रही हैं। दो घण्टे तक यही उल्लास रहा। पूज्य बड़े महाराज जी दो घण्टे तक एक विचित्र आनन्द में डूबे हुए मौन रहे। उनकी दृष्टि में तो यह सब भगवती महामाया का ही खेल था।

माता ने सपना दिया

उत्सव समाप्त हो गया सन्तों की विदा होगयी। तदनन्तर पूज्य श्री बड़े महाराज जी ने श्री छोटे महाराज जी से कहा—गाँव के भक्तों

ने बड़ी सेवा की है, बड़ा श्रम किया है और उन्होंने भण्डारे में प्रसाद ग्रहण नहीं किया है। अतः प्रसाद अलग से खिलाया जाय। उनकी आज्ञानुसार श्री छोटे महाराज जी ने चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण गाँव वालों को आमन्त्रित किया सबको प्रसाद पवाया। इस तरह यह दुबारा भण्डारा किया गया, जिसमें ४०-५० हजार की संख्या में जनता एकत्र हुई। ऐसे बीत गया जैसे कोई स्वर्गीय सुनहला स्वप्न शीघ्र समाप्त हो जाता है, पर उसकी स्मृति तो अमर हो गयी। उस यज्ञ का यशोगान विविध लोक गीतों में आज भी गाया जाता है। जन-जन के मन में विविध भाव बीज बिखर गये। महीनों तक लोगों को उस यज्ञ के सपने आते रहे। इधर कई साधुओं को भगवती देवी का स्वप्न हुआ। करौली वाली भगवती दुर्गा ने कई भक्तों को स्वप्न में आज्ञा दी और वह आज्ञा प्रायः एक-सी थी। वह आज्ञा ऐसी थी कि "मैं 'करह' पर आगई हूँ, मेरा मन्दिर बनवाओ, पूजा करो।" छड़ेह नामक ग्राम के एक ब्राह्मण को, एवं जौरा के सेठ श्यामलाल को भी भगवती ने प्रायः ऐसा ही स्वप्न दिया। सबने आ-आ कर पूज्य बड़े महाराज जी से स्वप्न का सन्देश सुनाया। बड़े महाराज जी ने एक ईंट में सिन्दूर लगा के रख दिया और लोगों ने उसे भगवती का प्रतीक समझ कर उसकी पूजा की। उन्हें 'यज्ञेश्वरी' के नाम से पुकारा गया। पूज्य श्री छोटे महाराज जी उस समय 'अमर नाथ' गये हुए थे। वे जब स्थान पर लौटकर आये और उन्होंने सिन्दूर-लिप्त ईंट को भगवती के रूप में पूजते देखा तो बड़े महाराज जी से प्रार्थना की कि 'इस रूप से लोगों के मन में भगवती की भावना कैसे उत्पन्न हो सकती है? और कैसे लोगों का विश्वास दृढ़ रहेगा?" महाराज जी ने कहा—"एरे रामदास। मैया की आज्ञा तो भवन बनवाने की है, यदि हो सके तो बनवाओ" छोटे महाराज जी ने पूज्य गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य की और कार्य में जुट गये। ढाई महीने में भगवती का भव्य भवन बनकर खड़ा हो गया। फिर छोटे महाराज जी जयपुर गये। वहाँ अष्ट भुजी माता की मूर्ति निर्मित करायी। जब पूज्य

श्री छोटे महाराज जी माता की मूर्ति को लेकर करह पर आये तो बड़े महाराज जी मूर्त्ति के स्वागतार्थ सन्त-समाज के साथ आश्रम से आध मील पहले ही पैदल चलकर पहुँचे। साथ में शंख-झालर की पवित्र ध्वनि होती गयी। छोटे महाराज जी ने परम गुरु देव के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम की। मानों यह बताया कि मेरी सारी सफलता का रहस्य आपकी ही चरण-रेणु में छिपा है। पूज्य श्री बड़े महाराज जी ने अत्यन्त गद्-गद् भाव से अपने सपूत शिष्य को अपने करुणा-पूर्ण हृदय से लगा लिया और वे भाव-विह्वल होकर बोले—"आज तुमने मुझे माँ से मिला दिया" देखने वालों की आँखें सजल होगईं।

क्वार-शुक्ल पक्ष अष्टमी के दिन माता की प्रतिष्ठा की गयी। यह प्रतिष्ठा अष्ट भुजी महासरस्वती देवी की थी। कुछ महीनों बाद अष्टादश भुजी श्री महालक्ष्मी जी की मूर्ति प्रतिष्ठित की गयी। और तभी से चैत्र शुक्ला तृतीया और चतुर्थी का मेला लगने लगा। सुन्दर मन्दिर का अवशिष्ट निर्माण पूरा किया गया। जिस स्थान पर माता की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई वहाँ विष्णु यज्ञ का यज्ञ-कुण्ड था। यज्ञ से पूर्व यहीं खड़े होकर नेपाली साधु ने घोषणा की थी कि "यहाँ माता की दिव्य मूर्ति स्थापित होगी, उनका विशाल भवन बनेगा।" उसकी भविष्य वाणी पूर्ण सफल हुई। सन्तों की लीला अति विचित्र है। कौन जान सकता है? जब वे ही कृपा करें तभी समझ में आ सकती है—"सो जानहि जेहि देहु जनाई।"

आकाश में उठा हुआ माँ का उज्ज्वल एवं धवल मन्दिर-शिखर तथा उस पर फहराती हुई दुष्टों के हेतु खतरे की झंडी की तरह लाल ध्वजा कोसों दूर से दृष्टिगोचर होती है और दूर-दूर तक गतागत पथिकों के नेत्रों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर 'करह' के स्थान तथा भगवती की पावन स्मृति कराती हुई उन्हें राह दिखाती है एवं शान्ति का सन्देश देती है। स्थापना के क्षण से लेकर प्रतिवर्ष प्रति-

दिन विशेषतः नवरात्र में आस-पास के ग्रामों के सहस्रों श्रद्धालु नर-नारी आकर दर्शन करते हैं ।

श्रवण गोचर ही न अतीत है, नयन गोचर है अब भी वहीं
'करह' की यह पर्वत-मालिका कह रही जग से स्वर मुक्त हो ।
यदि अतीत लखा तुमने कभी विपिन दण्डक में घट योनि को,
असित देवल या जमदग्नि को, अथच लोमश को इस लोक में
उषसि ध्येय अनन्त सश्रीक जो, सतत वेष्टित शिष्य समूह से
रतनदास विराज यहाँ रहे, कह अतीत वही यह मूर्त्ति है ?
विगत वैर जहाँ सब जीव हैं, मुखर हैं तरु भी हरिनाम से,
लख अतीत सुरक्षित है यहाँ, वह पुरातन आर्ष-परम्परा ।
कलुष से कलि के भयभीत हो, जगत में न सुरक्षित हो सका,
शरण में जिन के 'कृत' भी यहाँ, कर रहा सुख से दिन यापना ।
विगत भीति जहाँ सब भाँति से विचरते मृग भी मृगराज भी,
यह अखंड तपोनिधि संत के, भजन का तप का अनुभाव है ।

—रामगोपाल शास्त्री

अन्तिम तीर्थ यात्रा

गंगादितीर्थेषु वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणाश्च सन्ति भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थाच्च देवायतनाच्च मुख्यात् भाव ततो हृत्कमले निधाय तीर्थानि सेवेत समाहितात्मा ।

—नारदपुराण

"गङ्गा आदि तीर्थों में मछलियाँ निवास करती हैं, देवालयों में पक्षियों के झुण्ड रहते हैं किन्तु भावहीन होने के कारण उन्हें तीर्थसेवन या मन्दिर-निवास का फल उपलब्ध नहीं होता । अतः हृदय में भक्ति-भाव रखकर एकाग्र चित्त से तीर्थों का सेवन करना चाहिए ।"

पुराणकार का यह कथन साधारण जन के लिये है सन्त तो स्वयं तीर्थ हैं, स्वयं मन्दिर हैं ।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता ॥

—श्री मद्भागवत १ । १३ । १० ।

युधिष्ठिर जी भक्त प्रवर श्री विदुर जी से कहते हैं—"आप जैसे भगवद्भक्त तो स्वयं तीर्थ रूप हैं । आप अपने हृदय में स्थित भगवान् के द्वारा तीर्थों को सच्चे अर्थों में तीर्थ बना देते हैं ।"

हमारे परम पूज्य गुरुदेव ने भी तीर्थयात्रा की कामना की । यह यात्रा बहुत महत्वपूर्ण थी, क्योंकि श्री महाराज जी इसके पूर्व, जब से साधना के मार्ग में आये न किसी कुम्भ स्नान में गये न किसी तीर्थ यात्रा में गये । हाँ, जब वे घर में थे तब अपनी माता को लेकर बदरी-नारायण आदि तीर्थों में अवश्य गये थे । उसके पश्चात् तो वे 'करह' की वनस्थली में आ विराजे । वही स्थान तीर्थरूप हो गया । वे वहीं निरन्तर भगवन्नाम में निरत रहते थे । उन्हें बाह्यज्ञान तो जैसे रहता ही नहीं था फिर उन्हें किस तीर्थ की आवश्यकता ?

स्कन्द पुराण-काशी खण्ड के छटे अध्याय में स्पष्ट लिखा है—

निगृतेन्द्रियग्रामो यत्रैवच वसेन्नरः ।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च ।

"जिसने इन्द्रिय-समूह को वश कर लिया है, वह जहाँ भी निवास करता है उसके लिये वहीं कुरुक्षेत्र है, नैमिषारण्य है एवं पुष्कर तीर्थ है ।"

ये ही कारण हैं कि पूज्य महाराज जी कभी किसी तीर्थ में नहीं गये । साधुओं ने कई बार प्रार्थना भी की तो मुसकुरा के टाल दिया । लेकिन संवत् २०१० की साल साधुओं ने पुनः आग्रह किया और इस आग्रह को उन्होंने स्वीकार कर लिया । ऐसा लगता है जैसे उन्होंने पहले से ही मन में संकल्प कर लिया था । किसी को क्या पता था कि महाराज जी श्रीराम-धाम पधारने की तैयारी कर रहे हैं, उसी की यह पूर्व यात्रा है । तीर्थों का संकल्प करते ही उन्होंने दाढ़ी जटा बढ़ाली । दूसरे वर्ष चैत्र के महीने में तीर्थ यात्रा का आरम्भ किया । साथ में

दो सौ मूर्तियाँ थीं। आसपास के ग्रामों में समाचार फैल गया। नर नारियों के झुण्ड के झुण्ड दर्शनार्थ दौड़े आये। वे इतने से तृप्त न हुए अतः महाराज जी को अपने-अपने गाँवों में साग्रह लिवा ले गये। बुलाने की होड़ सी पड़ गयी 'निज-निज रुचि सब लेहि बुलाई।' महाराज जी भी, जो कभी कहीं न जाते थे, सब जगह गये। जनता निहाल हो गयी। उन्हें तो ऐसा सौभाग्य मिला—'जनु मरुभूमि कलपतरु जामा।'' गाँव-गाँव में अगाध श्रद्धा के अद्भुत दर्शन हुए। धनेला, जरारा, नूराबाद होते हुए श्री महाराज जी 'वानमोर' गये। वे जिधर से भी गये, रामनाम का अखण्ड प्रवाह उनके साथ उमड़ता गया। वानमोर में पूज्य गुरुदेव के प्रथम शिष्य बाबा श्री लखनदास जी महाराज के द्वारा निर्मित कराये हुए मन्दिर में श्री रघुनाथ जी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। वहाँ से लश्कर पधारे। लश्कर में वहीं के भक्त राम भरोसे, मदनलाल, चाँदमल ग्यासीराम आदि ने पूज्य चरणों में प्रार्थना की कि नगर की जनता को दर्शन देने की कृपा करें। पूज्य महाराजजी का स्वभाव तो स्वर्गीय था। न वे 'हाँ' कहते न 'ना' कहते। 'जैसी रामजी की इच्छा' बस इतने से शब्द थे! इन्हीं को चाहे 'हाँ' समझिये या 'ना'। भक्तों ने तो उसे 'हाँ' का प्रतीक माना। एक अत्युच्च धवल हंसाकार वाहन निर्मित कराया गया। उस पर पूज्य महाराज जी को बिठाकर नगर-दर्शनार्थ लिवा गये। अपार भीड़ उमड़ पड़ी। श्रीरामचन्द्रजी के जनक नगर दर्शन का दृश्य उपस्थित हो गया—

धाये धाम काम सब त्यागी।
मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥

आस-पास के छज्जों, खिड़कियों और द्वारों से पुष्प बरसे। रामनाम की ध्वनि, जय जयकार की गूँज, शंख, घंटा, घड़ियाल की ध्वनि ने समस्त नगर के दूषित वातावरण को पावन कर दिया। पूज्य चरणों ने खासगी के मन्दिर में एक रात्रि निवास किया। भक्तों की सेवा का अवसर प्रदान कर कृतकृत्य कर दिया। वहाँ से झांसी पधारे। राधामोहन निगम, गर्देजी, गोस्वामी, व्रजबिहारीलाल मुसरिम, देवाबाई आदि भक्तों ने सेवा की।

राम राजा के दर्शन

झांसी से पूज्य महाराजजी समस्त भक्तों के सहित 'ओरछा' पधारे। ओरछा में दो मन्दिर बड़े प्रसिद्ध हैं, एक 'रामराजा' का दूसरा चतुर्भुज जी का। पूज्य महाराजजी जब रामराजा के मन्दिर में गये तो उनकी देह-दशा विचित्र हो गयी। नेत्रों से अविरल अश्रु प्रवाह बह चला। भक्तों ने भावविभोर होकर रामध्वनि की। महाराज जी तन्मय होकर मूर्ति के अभिमुख चित्रित-से हो गये। पूज्य गुरुदेव की 'रामराजा' में अगाध श्रद्धा थी। वे उन्हें निरी मूर्त्ति की दृष्टि से नहीं देखते थे। वस्तुतः उस मूर्ति की कथा भी विलक्षण ही है। ओरछा की रानी गणेशकुंवरि उस मूर्ति को संवत् १६२२ में श्री अयोध्या जी से लाई थीं। इस सम्बन्ध में एक दोहा कहा जाता है।

मधुकरशाह नरेश की रानी कुंवरि गनेस,
अवधपुरी से ओरछा लाई अवध नरेस।

कहते हैं, जिस समय वे सरयू में स्नान कर रही थीं कि उनकी गोद में श्री रामचन्द्रजी की एक मूर्ति स्वतः आ गयी। रानी उस मूर्ति को ओरछा लाईं और उसकी प्रतिष्ठा कराई। इसलिये भक्तों की भावना के अनुसार 'रामराजा' के रूप में साक्षात् श्री रामचन्द्र जी विराजमान हैं। वहाँ के सम्बन्ध में एक दोहा प्रसिद्ध है।

सर्व व्यापक राम के दो निवास हैं खास,
दिवस अयोध्या रहत हैं रैन ओरछा वास।

सचमुच पूज्य श्री महाराज जी का तो श्री 'रामराजा' में अगाध विश्वास था। उनकी अगाध श्रद्धा थी। इस प्रथम-दर्शन में ही जैसे आत्मसमर्पण कर दिया था। ओरछा के बाद महाराज जी चित्रकूट पधारे। चित्रकूट तो वास्तव में तपःस्थली है। आज भी त्यागियों

तपस्वियों एवं नाम जापकों का सिद्ध पीठ है। सदा ही नाम ध्वनि गूँजा करती है। एक कवि ने ठीक ही कहा है :—

कवित्त—

राम ध्वनि शब्द सों अकास जहां व्यापत रहे
राम पद रेखनिसों बसुधा खची रहे।
युगल स्वरूप के निमित्त यत्र तत्र छाय
नित्त नित्त नई-नई रचना रची रहे।
कहत 'बिहारी' जाकी महिमा विलोक लोक—
चकृत सदैव शिवा सारदा शची रहे।
अर्थ धर्म काम मोक्ष चारिहू पदारथ की
आठोयाम लूट चित्रकूट में मची रहे॥

चित्रकूट में पहुँच कर तो बड़े महाराज जी की भरत-जैसी दशा हो गयी—

जबहि राम कहि लेहि उसासा।
उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥

दो सौ भक्तों के साथ दो दिन निवास किया। भक्तवर बक्शी जी ने सेवा की।

चित्रकूट पर एक विलक्षण बात हुई। जिस समय पूज्य श्री महाराज जी बैठे थे और भक्तों का समूह श्री राम-नाम-ध्वनि की धारा में अवगाहन कर रहा था तो एक पर्याप्त मोटा-ताजा बानर कूदकर महाराज जी के पास आ बैठा। पहले तो कुछ भक्तगण उसे देखकर सकपकाये किन्तु बानर राज को निर्विकार बैठे देखकर और भी जोश के साथ नाम-कीर्तन करने लगे। बानर राज ने पूज्य महाराज जी के चरण पकड़ लिये। महाराज जी मुसकराये। एक भक्त को आज्ञा दी, अधिक सा प्रसाद मंगाया। पूज्य श्री गुरुदेव ने स्वयं अपने हाथों से उसे खूब प्रसाद खिलाया। जब बानर राज अच्छी तरह छक गये, तब छलांग मारकर चलते बने। भक्तों ने बजरंगबली की जय-जयकार की। यह तो हनुमानजी का संकेत था। महाराज जी

ने दूसरे दिन समग्र चित्रकूट के वैष्णव सन्तों को प्रसाद पवाया। जानकी कुंड श्री हनुमानधारा कामदगिरि आदि सभी स्थानों से सन्त पधारे। पूज्य बड़े महाराज जी के दर्शनों से सभी अत्यन्त प्रसन्न थे, प्रभावित थे।

वहाँ से प्रयागराज पधारे। वहाँ 'तुलसीदास जी के स्थान' में निवास किया। बाबू राधामोहनजी ने सेवा का प्रबंध किया। महाराज जी त्रिवेणी में स्नान करने गये। साथ में नापित बालक केदार पहले से ही महाराज जी के साथ था। उसकी बड़ी कामना थी कि त्रिवेणी पर पूज्य श्री महाराज जी का क्षौर कर्म मैं करूँ। केदार बचपन से ही पूज्य महाराज जी की सेवा में रहा है। उसने महाराज जी को भद्र किया और १०१) रुपयों की भेंट पूज्य चरणों पर समर्पित की। त्रिवेणी स्नान हुए। समस्त वैष्णवों को 'भण्डारा' दिया गया। तीन दिन निवास करने के अनन्तर श्री अयोध्या पधारे।

श्री अयोध्या में प्रवेश

"इयं सरित् सा सरयूरयोध्या-वधू-निबद्धा मणि-मेखलेव
करोति वेल्लत्कलहंस-माला-कोलाहलैर्विभ्रम-शिञ्जितानि

—रामायण मंजरी

"यह वह सरयू है जो अयोध्या-वधू की कटि में बँधी नील-मणियों की करधनी-सी लगती है और जिसमें तटवर्ती कलहंसों का कलरव, मधुर झनकार बन जाता है।"

मार्ग में अखण्ड रामध्वनि होती गयी। दर्शक एवं पथिक देख-देख कर चकित थे। श्री राम-धाम अयोध्या में जैसे ही प्रवेश किया पूज्य महाराज जी स्नेह-विह्वल हो गये। उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु झरने लगे। अयोध्या के कई प्रसिद्ध सन्त उनकी वृत्ति देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए। वे जब हाथ जोड़ने लगे तो महाराज जी ने विनय-मधुर स्वरों में कहा—"श्री अयोध्या निवासी तो श्रीराम के 'अतिप्रिय' हैं और

जो हमारे आराध्य के अतिप्रिय हैं हमारे लिये तो वे श्रीराम से अधिक वन्दनीय हैं।"

श्री अवध में मणि पर्वत पर निवास किया। वेदान्ती श्री रामकुमारदास जी ने सब प्रकार की सुविधा प्रदान की। सरयू में स्नान करने गये तो स्नेह में डूब गये। 'यहीं चारों भैया खेलते होंगे, इसी सरयू में स्नान करते होंगे' यह सोचकर विरह-विकल होने लगे। सचमुच महाराज जी का जीवन, उनका प्रत्येक क्षण विरहाकुल था—राममय था। उन्हें चटपटी लगी रहती थी—

इस तन का दीवा करौं बाती डारौं जीव।
लोही सींचों तेल ज्यों कब मुख देखों पीव॥

कबीर की यह भावना उनमें साकार हो उठी थी स्नान के अनन्तर नंगे पैरों अयोध्या के सम्पूर्ण पावन स्थलों के दर्शन करने गये।

विधिवत् 'राम अर्चा' सम्पन्न कराई। एक दिन श्री अवध के समस्त सन्तों को प्रसाद पवाया गया। ११ दिन तक श्री अयोध्या जी में निवास किया। श्री अयोध्या जी के सम्पूर्ण वैष्णव साधु इस करुणा की मूर्ति एवं स्नेह से द्रवीभूत तथा अविच्छिन्न नाम-जापक अलौकिक सन्त के दर्शनों से मुग्ध थे। रात दिन अखण्ड कीर्तन, रात दिन कथा-सत्सङ्ग, रात दिन साधु सेवा का कार्य बराबर चलता रहा। श्री अवध के आस-पास के ग्रामों से सहस्रोंजन दर्शनार्थ आये। केवल दर्शक बनके नहीं सेवक बनके भी ११ दिन तक मणिपर्वत पर जहाँ पूज्य महाराज जी ठहरे थे, प्रेम सेवा एवं ज्ञान की अविच्छिन्न त्रिवेणी बहती रही।

श्री अयोध्या जी से बाराबंकी आये। मोहनलाल जी की धर्मशाला में एक दिन निवास किया, दिन रात के अखण्ड नाम कीर्तन ने धर्मशाला को केवल धर्मशाला ही नहीं 'प्रेमशाला' ही बना दिया। मास्टर कौल, हौसलाबक्श तथा छेदालाल आदि भक्तों ने प्रेम और श्रद्धा से सेवा की। वहाँ से लक्ष्मणपुर (लखनऊ) पधारे। बाबू कामताप्रसाद निगम के यहाँ 'सियावर निवास' में एक दिन निवास किया। डा० भोलानाथ कपूर आदि ने बड़ी श्रद्धा से सेवा की। लक्ष्मणपुर से आगरा होते हुए मुरेना पधारे। आगरा में श्री रामचन्द्र इन्सपेक्टर, श्री भगवत स्वरूप सुपरिटेण्डेण्ट, बाबू कामताप्रसाद, श्री विष्णुशंकर वकील, चन्दाराम, रामचन्द्र, लछिमनदास आदि भक्तों ने सेवा का सौभाग्य प्राप्त किया। मुरेना में कदमसिंह के यहां एक दिन ठहर कर पूज्य श्री महाराज आश्रम पर पधारे।

आश्रम पर पुनरागमन

पूज्य श्री महाराज जी जबसे तीर्थाटन के लिये गये तबसे आश्रम के आस-पास के सभी भक्त उदास थे। बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे। आश्रम सूना न रहे, पूज्य महाराज यथाशीघ्र हम सबको दर्शन दें, इस कामना से सौ गाँवों के भक्तों ने सम्मिलित होकर एक महीने का अखण्ड नाम-कीर्तन कर रक्खा था। रामकिसन तथा श्री रामप्रसाद इन दोनों भक्तों ने उसकी व्यवस्था की।

वैसे ही बड़े महाराज जी के आश्रम पर पधारने का समाचार सुना, समस्त भक्त मण्डली के हर्ष का पारावार न रहा। एक महीने का समय वर्षों की तरह बीता। उसके पश्चात् महाराज जी के आगमन से उन्हें उतना ही अपार हर्ष हुआ जैसा १४ वर्षों के अनन्तर लौटकर आये श्री राम को देखकर अयोध्यावासियों को हुआ था। जिन गाँवों में, जिन भक्तों के यहाँ पहले नहीं जा पाये थे उन गाँवों के भक्तों के आग्रह पर पुनः पधारे। गाँवों से लौटकर कीर्तन की पूर्णाहुति की गयी। कीर्तन करने वाले १० सहस्र भक्तों को निमन्त्रित कर उन्हें भोजन कराया। इस यात्रा में कई नगरों एवं ग्रामों के भक्तों ने महाराज जी के चरणों में तीस सहस्र से कुछ अधिक ही रुपये चढ़ाये

और पूज्य चरणों ने उन सबको तीर्थों में और आश्रम पर जनता-जनार्दन की सेवा में लगा दिया। 'त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' आजीवन उनका यही नियम रहा। संग्रह के नाम पर उनके पास नाम-धन का ही संग्रह था। इसीलिये जनता उन पर मुग्ध थी। संस्कृत के एक कवि का यह कथन ठीक ही है—

प्रियः प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः
आगच्छन् वाञ्छयते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः

प्रजाओं को दाता ही प्रिय होता है, धन-संग्रही नहीं। लोग आते हुए बादलों का स्वागत करते हैं बढ़ते हुए समुद्र का नहीं।

पूज्य महाराज जी का ग्रामों में जाना था कि साधु-मण्डल में भी यह कामना उत्पन्न हुई कि वे उनके स्थानों पर भी पधारे। उन्होंने सस्नेह आग्रह किया तो महाराज जी का हृदय कुछ विचित्र हो गया था। वैसे तो जीवमात्र के प्रति दयालु थे पर इन दिनों उनका हृदय अत्यधिक करुणा-विगलित हो गया था। तनिक भी किसी का जी नहीं दुखाते थे। इसके लिये उन्होंने नियमों के बन्धन शिथिल कर दिये थे। वस्तुतः उनका यह नियम-शैथिल्य भविष्य में अधिक नियम-बद्ध होने का पूर्व रूप था। कसने के पूर्व बन्धन को ढीला किया ही जाता है। उनकी प्रत्येक क्रिया योजनानुकूल चल रही थी। वे सांतऊ शीतलादेवी की यज्ञ में पधारे, हट्टूपुरा रनजीतसिंह के यहाँ गये, हरीरामदास जी के आग्रह पर 'मेंढकेश्वर' लछिमनदास के स्नेहवश रऊ के घाट, रामवल्लभदासजी के प्रेमवश 'बावरी के श्री हनुमान', श्री गोपालदास जी के आग्रह पर उनके स्थान 'मजरा' और पीतमदास जी के कथन पर 'जौरा' पधारे। श्री रामचरनदास जी के स्थान—'सुपावली' भी गये। पर इस कार्यक्रम से उनकी साधना में कोई अन्तर नहीं आया। वह तो गङ्गा प्रवाह की तरह निरन्तर चलती थी और लोग उसी 'बहती गङ्गा में' हाथ धो रहे थे—अवगाहन कर रहे थे। पूज्य महाराजजी के मन में कोई बात थी, पर वह इतनी गहराई में थी कि उनके अत्यन्त समीपी भक्त या शिष्य भी नहीं समझ सके। उनका

राम-प्रेम चरम-सीमा की ओर बढ़ रहा था, पर अन्दर-ही-अन्दर। ठीक भी था—

दो०—बात प्रेम की राखिये अपने ही मन माँहि।
जैसे छाया कूप की बाहिर निकसै नाँहि॥

श्री रामराजा की ओर

अयि दलदरविन्द ! स्यन्दमानं मरन्दं—
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृंगा,
दिशि दिशि निरपेक्ष स्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः।

अर्थ—"अयि खिले कमल ! तुम्हारे झरते हुए मकरन्द का पान करने वाले भृङ्ग भले ही मंजु गुंजार करें, किन्तु प्रत्येक दिशा में तुम्हारे परिमल का प्रसार करने वाला वास्तविक बन्धु तो दूसरा ही है और वह है गन्धवाह-पवन।"

'दतिया' के पास 'ब्रह्म बालाजी' के नाम से प्रसिद्ध भगवान् सूर्य का एक प्राचीन मन्दिर है। उसकी विस्तृत परिधि का स्पर्श करती हुई एक छोटी-सी नदी बहती है—पुष्पावती (पहूज)। उसी के पावन तट पर बागला-बन्धुओं ने महाविष्णु-याग का आयोजन किया। उसकी सफल सम्पन्नता के लिये वे सब पूज्य श्री बड़े महाराज जी को लिवा ले गये। वहाँ तीन दिन के लिये पधारे। यज्ञ की व्यवस्था का अधिकांश भार पूज्य श्री छोटे महाराज जी पर था। पूज्य श्री बड़े महाराज जी तो केवल दर्शन देते रहते। न वे भाषण देते न कीर्तन-भजन में उनका स्वर सुनाई पड़ता था फिर भी उनकी प्रेममयी, करुणामयी मूर्ति में कुछ ऐसा विलक्षण आकर्षण था कि अपार जन-समूह उनके दर्शनों को दिनभर उमड़ा करता था। यज्ञ में लगभग १ लाख का भण्डारा हुआ और यह सब उन्हीं के प्रताप की अद्भुत प्रेरणा थी। भण्डारे के दूसरे दिन पूज्य चरण सहसा उठकर

ओरछा की ओर चल दिये। छोटे महाराज जी को पता लगा। वे दौड़कर महाराज जी के चरणों में पड़े और उन्होंने प्रार्थना की कि यज्ञ-कार्य को पूर्णतया सम्पन्न होने दीजिये।" पूज्य बड़े महाराज जी ने गद्गद् होकर कहा—"रामराजा बुला रहे हैं, वे इस यज्ञ में अब नहीं हैं मुझे जाने दो"। उनका यह दृढ़ स्नेहाग्रह देखकर पूज्य श्री छोटे महाराज जी अपने समस्त परिकर के सहित साथ ही चल पड़े। ओरछा पहुँचकर समस्त सन्त ब्राह्मणों को भोजन कराया। रात्रि के समय पूज्य बड़े महाराज जी को श्री रामराजा की कुछ विलक्षण लीला दृष्टिगोचर हुई; फलतः सारी रात अपने निद्रा-हीन नेत्रों से गङ्गा-यमुना की धाराएँ बहाते रहे। प्रातःकाल भक्तों ने उनकी वह विरह-विह्वल दशा देखी। पूज्य बड़े महाराज जी श्री रामराजा के दर्शन करने गये। घंटों इकटक निहारते रह गये। आँखों से अश्रुपात हो रहा था। उनकी मूर्त्ति सम्मुख थी फिर भी उनका विरह उन्हें व्याकुल बना रहा था! उनकी लीला वही जानें—

दो०—बिछुरी होय सो फिर मिले रूठो हू मिल जाय।
मिलो रहै अरु ना मिले तासों कहा बसाय?

महाराज जी ने सभी सन्तों और भक्तों को बुलाया। उनसे प्रभु की प्रेरणा बताई कि हमें श्री राम जी की आज्ञा हुई है 'ईस रजाइ सीस सबही कें'। उसके अनुसार अब हम फलाहार ग्रहण करेंगे; किसी के घर न जायेंगे। जो कोई हमारा फलाहार छुड़ाने और घर ले जाने का प्रयत्न करेगा उसे ओरछा में श्री रामराजा पर एक सहस्र सन्तों को भोजन कराना होगा, हवन कराना होगा। उन सन्तों में दोसौ सन्त श्री अयोध्या जी के होंगे।" यह संकल्प करके तीन दिन बाद वहाँ से आश्रम पर आ गये। और वहाँ उपर्युक्त नियमानुसार रहने लगे। लोग उन्हें घर ले जाने का आग्रह न करें, इस हेतु नियम को अंकित कर मन्दिर के सम्मुख लगा दिया गया। जब कोई ऐसा प्रसंग आता तो महाराज जी उसी ओर संकेत कर देते थे।

महायात्रा की तैयारी

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

—गीता २।५८।

अर्थ—जैसे कछुआ अपने अंगों को अनायास ही बाहर से अपने आप में समेट लेता है वैसे ही जो योगी अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच लेता है वह 'स्थित प्रज्ञ' है।

पूज्य श्री बड़े महाराज जी धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे थे, जगत् से जगदीश की ओर बढ़ रहे थे, भौतिक देह से दिव्य देह की ओर, मर्त्य-लोक से अमरलोक की ओर उन्मुख हो रहे थे। उस समय और भी मानवता-विरोधी कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं जिनसे वे और अधिक आकुल होकर अपने आराध्य से मिलने की शीघ्रता करने लगे। आस-पास दस्युओं का आतङ्क फैल रहा था। राजपुरुष उनके दमन में तत्पर हो रहे थे। जन-जीवन भयाक्रान्त हो रहा था। चारों ओर भय एवं आशंका का वातावरण बन रहा था। भोला ग्रामीण दस्यु एवं दस्यु-दमनकारी दोनों के द्वारा प्रताड़ित था। उनकी करुण पुकार पूज्य चरणों तक आती सुनकर उनके नेत्रों से करुणा झरने लगती थी और कुछ क्षणों तक नेत्र बन्द कर ध्यानावस्थित हो जाते थे। उनकी मूक-पीड़ा का अनुमान उन्हें देखकर सहज ही हो जाता था अब उन्होंने नियम-बन्धन को और कस दिया। ६ महीने से वे केवल स्वल्प फलाहार ही ले रहे थे। इसके पश्चात् तो उन्होंने फलाहार में केवल एक गिलास दूध लेना स्वीकार किया। तीन महीने तक यह नियम इसी रूप में चलता रहा। तीन महीने पश्चात् भक्तों को चरण दबाने से, चरण छूने से रोक दिया। दूसरों से सेवा लेना बन्द कर दिया।

इससे भक्तों में चिन्ता के चिह्न प्रकट होने लगे। छोटे महाराज

जी भी चिन्तित हुए कि यह क्या बात है, महाराज जी क्या करना चाहते हैं।

पूज्य श्री महाराज जी का शरीर दिनों दिन दुबला होने लगा। शरीर तो भौतिक ठहरा। मतलब का साथी है, यदि उसे ठीक से खाने-पीने को न दिया जाय तो वह किसी का साथ नहीं देता। वह तो मौज का साथी है; पर प्रेमियों के मार्ग में मौज कहाँ है ?

दो०—रहिमन मारग कठिन है जहाँ प्रेम को धाम।
विकल मूरछा सिसकिबो ये मग के विश्राम॥

शरीर का रहस्य सन्तों को ज्ञात होता है, वे इसके लालन-पालन में समय नष्ट नहीं करते। इस सम्बन्ध में उनका स्वर अनुभव पूर्ण है—

दो०—देही होइ न आपनी समुझि परी अब मोहि
अबहीं ते तजि राखितू आखिर तजि है तोहि।

पूज्य चरणों का शरीर कृश हो गया। उस में रोग के चिन्ह प्रकट होने लगे। बहुत से डाक्टर आये। कई अनुभवी वैद्य आए। विविध औषधियाँ हुईं। यद्यपि महाराज जी ने मना कर दिया कि हम कोई औषध न लेंगे; हमारी औषध राम-नाम है।" और सचमुच उनके सर्वस्व तो श्री राम थे। कवि ठाकुर के शब्दों में मानों महाराज जी की ही भावना छिपी है :—

कवित्त—

राम मेरे पण्डित अखंडित सुदिन
सो धँ राम मेरे गुरु जप मेरे राम नाम है
राम-राम गावत ही राम-राम ध्यावत ही,
राम-राम सोचत कटत आठो याम है।
'ठाकुर' कहत सांची आस मोहि राम ही की,
राम ही से धन और धाम मेरे राम है।
राम मेरे वैद्य बिसराम मेरे राम राय,
राम मेरी औषधि जतन मेरे राम हैं।

डाक्टरों ने सलाह दी कि पूज्य महाराज जी थोड़ा-थोड़ा अन्न-ग्रहण करने लगें तो अन्न ग्रहण न करने से शरीर में जिस पदार्थ की कमी हो रही है उसकी पूर्ति होने लगेगी और कष्ट कम हो जायगा। किन्तु श्री महाराज जी ने कहा—"श्रीरामराजा की आज्ञा नहीं है"। इस बात से जब रामराजा की चर्चा होने लगी तो पूज्य श्री महाराज जी के नेत्रों से आँसू बहने लगे। उनके रोम-रोम में विरह व्याप्त हो गया था। भक्तों में चिन्ता का वातावरण फैला था। कबीर ने कहा है—

दो०—विरहिन ओदी लाकरी सपचे अरु धुँधियाय।
छूटि परे या विरह सों जो सिगरो जरि जाय॥

महाराज जी की दशा वैसी ही होगयी थी।

साकेत-वास

पंचत्व तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशैर्मिलन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त, शिरसा तत्रापि याचे वरम्
तद्वापीषु पय स्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनिधरा तत्तालवृन्तेऽनिलः
—सूक्तिरत्नाकर

अर्थ—"मेरा शरीर भले ही नष्ट हो जाय, पंच भूत अपने-अपने अंशों में विलीन हो जायें, मुझे इस की तनिक भी चिन्ता नहीं, मैं तो सिर से प्रणाम कर विधाता से बस एक ही याचना करता हूं कि मेरे शरीर का जलतत्व मेरे आराध्य की वाणी में जा मिले, मेरे शरीर का अग्नि-तत्व ज्योति के रूप में मेरे हृदय सर्वस्व के दर्पण में लीन हो जाये, उनके आँगन के आकाश में मेरा आकाश तत्व और उनके पंखे में मेरा वायु तत्व समा जाय।"

पूज्य श्री चरणों ने सन् १९५८ में पहली मार्च को ओरछा में

श्री रामराजा के सम्मुख व्रत साधा था । शरीर को अधिक संयत एवं सन्तुलित करने का संकल्प लिया था । सन् १६५६ पहली मार्च को उनका वह संकल्प पूरा हो गया । जिस दिन व्रत पूरा हुआ उसी दिन पूज्य श्री महाराज जी के मन में श्री रामराजा के दर्शनार्थ ओरछा पधारने की प्रेरणा हुई । उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की । छोटे महाराज जी उन्हें लेकर नूराबाद गुरु-स्थान पर पधारे । साथ में बहुत से सन्त भी थे । छोटे महाराज जी ने सोचा—'यहाँ महाराज जी का स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जाय तो ओरछा ले चलें ।' नूराबाद पहुँच कर श्री बड़े महाराज जी ने श्री छोटे महाराज जी को अपने पास बुलाया और उन्हें समझाया ए'रे रामदास ! भैया आजकल गाँवों के लोग तो बहुत गरीब हैं । तुम जो ओरछा में भण्डारा करोगे उसका भार गरीब लोगों पर नहीं पड़ना चाहिए । लगभग एक लाख रुपये हाथ में हों तभी इतना बड़ा कार्य हाथ में लेना । छोटे महाराज जी ने आश्वासन दिया कि आपकी जैसी आज्ञा है वैसा ही किया जायगा । उसी दिन बाबा लखनदास जी महाराज भी नूराबाद पधारे ।

सन् १६५६, २ मार्च को महाराज जी का शरीर अचानक अधिक अस्वस्थ हो गया । सारे दिन वैद्य डाक्टर घेरे रहे । उन्होंने कोई दवा स्वीकार नहीं की, शाम के लगभग तीन बजे होंगे । उन्होंने भगवान् का चरणामृत चाहा । चरणामृत दिया गया । अब सब सन्तों को विश्वास होगया कि पूज्य बड़े महाराजजी शरीर छोड़ने वाले हैं । चारों ओर से रामध्वनि गूँजने लगी । श्री हनुमान जी के मन्दिर में उन्हीं के सम्मुख अत्यन्त शान्ति से श्री राम नाम का स्पष्ट उच्चारण किया और उनकी अन्तरात्मा राम में लीन हो गयी ।

दो०—लिखा लिखी की है नहीं देखा देखी बात
दूल्हा दुलहिन मिल गये फीकी परी बरात ।

पूज्य महाराज जी के साकेतवास का समाचार बड़ी शीघ्रता से फैल गया । नूराबाद के नरसिंह-मन्दिर में अपार जन-सागर उमड़

पड़ा । लोग अधीर होकर फूट-फूट कर रो पड़े । उन्हें लगा कि वे अनाथ हो गये—

चौं०—सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा ।
धीरज हू कर धीरज भागा ।

सायं चार बजे विमान सजाया गया । उसमें पूज्य महाराज जी का शरीर बैठी हुई मुद्रा में पधराया गया । उस समय मुखाकृति इतनी सजीव प्रतीत होती थी मानों महाराज जी कुछ बोलने ही वाले हैं । विशाल जन-समूह के साथ विमान को करह ले गये । मार्ग में करुण-स्वरों से राम ध्वनि होती गयी । जनता का रोदन नामोच्चारण के द्वारा ही प्रकट होरहा था । सन्तों के लिए जो रोना होता है । उसमें भी राम नाम के ही स्वर फूटते हैं । गाँवों के बाल वृद्ध नर नारी दौड़-दौड़ कर दर्शनार्थ आते जाते थे । स्थान-स्थान पर आरती होती गयी । लोग घी लेकर दौड़े इस दौड़-धूप में मनों घी मार्ग में ही लुढ़क गया । इस करुणा-प्रवाह के साथ पूज्यचरणों का पार्थिव शरीर स्थान पर ले जाया गया ।

स्थान पर चन्दन-काष्ठों से चिता रची गयी । रात्रि के ग्यारह बजे विधिवत् दाह-संस्कार किया गया । उस अन्तिम 'लौ' के दर्शनों के हेतु कई दिनों तक लोगों का तांता लगा रहा—लोग वहाँ से इस प्रकार लौटे-'मनहुँ सबनि सब संपति हारी ।' अस्थि-चयन के पश्चात् एक-एक अस्थि एवं मुट्ठी-मुट्ठी भर भस्म को सहस्रों भक्तों ने भारत के समस्त तीर्थों में पहुँचाया । लोक-हृदय से अनेक लोक-गीत फूटे । उनमें पूज्य चरणों के प्रति भव्य भावना प्रकट की गयी । उनके महा-प्रयाण का सजीव चित्रण किया गया । पूज्य चरणों के वियोग की छाप जन-जन के हृदय पर पड़ी, परन्तु श्री छोटे महाराज जी तो अधिक विकल हो गये । क्योंकि ये उनके केवल कृपा-पात्र ही नहीं, प्रेम पात्र भी थे । उनका अधिक व्यथित होना स्वाभाविक ही था ।

उनके हृदय की विरह-वाणी में बड़ी व्यथा है वे कहते हैं—

उन्होंने अपने प्राण, प्राणपति को सौंप दिये । उनके लिये यह

मृत्यु नहीं, मृत्यु की मृत्यु थी। वास्तव में "महापुरुष की मृत्यु दिव्य है। वह अनन्त के दर्शनों का द्वार है, उसमें कितनी शान्ति है, कितना समाधान।

सुकरात मरते समय अमृत-तत्त्व का स्वाद ले रहा था। मरते समय 'गेटे' ने कहा—'अधिक प्रकाश, अधिक प्रकाश।' तुकाराम महाराज ने 'रामकृष्ण हरि' गाते गाते ही देह का त्याग किया। 'समर्थ' ने कहा था—'रोते क्यों हो मेरा दास बोध तो है'। लोकमान्य तिलक 'यदा यदाहि—धर्मस्य' वाला श्लोक बोलते-बोलते चले गये। गांधीजी दोनों हाथ जोड़े हुए 'हे राम' कहके संसार से विदा हुए। संसार में इस प्रकार के कितने ही महा प्रस्थान हो गये होंगे। मृत्यु मानों महा शान्ति है, मृत्यु मानों नवजीवन का आरम्भ है, मृत्यु मानों आनन्द का दर्शन है, मृत्यु मानों पर्व है। वह आत्मा और परमात्मा की एकता का सङ्गीत है मरण मानों प्रियतम के पास जाता है। भारतीय संस्कृति ने मृत्यु का डङ्क काट कर फेंक दिया है, उसे सुन्दर और मधुर बना दिया है। अतः महापुरुषों के लिए मृत्यु मानों खेल है, मृत्यु मानों आनन्द है, मृत्यु मानों मेवा मिठाई है, मृत्यु मानों पुराने वस्त्र निकालना है और मरण मानों चिर विवाह है' साने गुरु।

पर यह तो उनके लिए है जो अपने आराध्य से जा मिले। पूज्य श्री महाराज ने पार्थिव शरीर के बन्धन तोड़ दिये। वे श्री रघुनाथजी के चरणों में पहुँच गये। पर उन पर तो वज्र टूट पड़ा जो उनके भक्त हैं और जो उनके अनुयायी हैं। उनकी आँखें तो इसीलिए तड़प उठीं कि उन्हें दिव्य स्नेह-जल से नहलाने वाले, रोम-रोम को पुलकित कर देने वाले युगल लोचन सदा के लिये बन्द हो गये। उनके कान तो इसी से पीड़ित होगये कि पूज्य चरणों के अपार-रस-पूर्ण स्वर्गीय बोल अब सदा के लिये मौन हो गये।

छप्पय—

जिनके सुखमय मृदुल वचन को श्रवण तरसते,
जिनके दर्शन काज नयन नित अश्रु बरसते।

जिनके पद को गहन हाथ दिन-रात भटकते,
मिलत नहीं, हैं यहीं भगतजन सीस पटकते।
मरे नहीं वे हैं अमर, सत चित आनँद कन्द हैं,
हमें अभागी जानकर दर्शन देना बन्द हैं।

(२)

कलि से व्याकुल जीव शरण में जिनकी आते,
जगत जाल में फँसे दुखी छुटकारा पाते।
जिनके कर की छाँह सदा त्रयताप नसायो,
अरे दैव दुर्दैव ! कहां वह रूप छिपायो।
छली प्रपंची अधम लखि दृग से ओझिल ह्वै गये,
श्रीराम राजा के प्राण में प्राण धरोहर धर गये।

(३)

अन्न दान नित देत नहीं कोउ भूखे जावें।
स्वयं कष्ट सहि लेंय वस्त्र दे शीत मिटावें,
क्षमा, शील, सन्तोष, ज्ञानहू दान दियो है।
कुटिल जननि को नाम-दान दै भक्त कियो है।
सदा दियो सुख सबन कौ दुख देवो बाकी रह्यौ,
सो अब देकर छिप गये हाय राम ! यह का भयो !

(४)

दीननि को लखि दुखी फटत थी जिनकी छाती,
रोवत देखें जीव आँख आँसू भर लाती।
बड़े-बड़े दुख सहे दुःख काहू नहि दीनौ,
सदा दुखित सौं नेह यही व्रत जिनने लीनौ।
चिन्ता है गुरुदेव ! यह कैसे तुम सुख सोइहौ,
हमें दुःख में देखिकें तुमहूं दुख में होइ हौ॥

स्थान पर साधु समाज अन्यत्र गृहस्थगण भी 'बड़े' महाराज जी 'छोटे' महाराज जी इन दो नामों से पूज्य परम गुरुदेव एवं उनके आज्ञाकारी कार्यशील प्रिय शिष्य को क्रम से पुकारा करता है। इस

बात को लक्ष्य करते हुए झांसी के भक्त कवि भवानीप्रसाद 'मुदगिल' ने पूज्य महाराज जी के शरीर-संवरण को 'छोटे' 'बड़े' के भेद को मिटाकर अद्वैत भावना—एकाकार का संकेत माना है। उन्होंने कहा—

कवित्त—

लेली समाधि कुछ लोग यह कहते हैं,
कोई-कोई कहते महानिद्रामांहि सो गये।
छोड़ा शरीर कहें कोई देहान्त हुआ,
कोई-कोई भक्त कहें राम-धाम को गये।
शोकाकुल कोई कहें हमसे हैं विलग हुए,
मेरे महाराज हाय मुझसे आज खो गये।
'मुदगिल' कहे लोग कहते थे 'छोटे-बड़े'
भेद को मिटाने मिलि दो-से-एक हो गये।

कई नगरों में एवं सन्त-स्थानों में महाराज जी के 'साकेतवास' का समाचार गया। 'रऊ चम्बल का घाट' नामक स्थान के वैष्णव सन्त श्री लछिमनदास जी ने जैसे ही सुना वैसे ही—'हा महाराज जी' कहके प्राण छोड़ दिये। इसी प्रकार आगरा के कैलाशचन्द्र भक्त ने भी जिस दिन और जिस समय यह वृत्तान्त सुना वे उसी क्षण जैसे बैठे थे वैसे देखते रह गये जबकि तीसरे दिन उनके लड़के की शादी थी। समाचार देनेवाले के मन में यह कल्पना भी न थी कि उसके मुँह से जैसे ही दारुण वृत्तान्त निकलेगा उसी क्षण इनके प्राण निकल जायेंगे। ये दोनों घटनायें अद्भुत थीं सच्चे प्रेम का अद्वितीय उदाहरण था!

जिस दिन पूज्य श्री महाराजजी का शरीर शान्त हुआ उसी दिन से 'करह' स्थान पर एक साल के लिये अखण्ड राम-नाम का कीर्तन शुरू किया गया। विशाल भण्डारा हुआ। जीवन-चरित्र प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया गया जो कि आपके हाथों में है। श्री छोटे महाराज जी ने उनकी स्मृति में श्रद्धा के अनुरूप एक भव्य समाधि-

मन्दिर के निर्माण का निश्चय किया। उस निश्चय की कार्य रूप में परिणति भी दर्शनीय है।

इन सारे प्रयत्नों का एक मात्र उद्देश्य यही है कि अधिक-से-अधिक समय तक उनकी पवित्र स्मृति सजीव बनी रहे और आज का मोहाकुल प्राणी उससे अपना अन्तः पवित्र बनाकर शान्ति प्राप्त कर सके। क्योंकि सन्तों का चरित्र प्रभु-मिलन की मधुर कथा है और उनका स्मारक प्रभु का सच्चा स्मारक है। वेद तो शब्द रूप हैं उसमें भी 'नेति' 'नेति' शब्द तो और भी चक्कर में डालने वाले हैं। इसी को लक्ष्य करके 'अमृतोदय' नाटक के रचयिता ने एक बात बड़ी मर्म की कही है। वह कहता है—

श्रुति-जनक ! रटत्य सौ कुमारी
तव दुहिता बहिता वहिरेत्य 'नेति' नेति'
व्यवहित निकटस्थि तो ऽसि यस्माद्
त्वयि मिलितेऽपि ममातिथे: क भोगः ?

अर्थ - "हे श्रुति जनक श्रुति के पिता। यद्यपि मैं आपके पास ही आपके बिलकुल द्वार पर ही आगया हूं फिर भी आप छिपकर जा बैठे हैं और आपकी पुत्री श्रुति, बाहर आकर कहती है—'नेति-नेति' नहीं है, नहीं है।' इससे मैं समझता हूँ कि तुम्हारे मिलने पर भी मुझ अतिथि को भोग-सामग्री का मिलना दुर्लभ ही है। जो पहले से न मिलने का इतना प्रबन्ध रचाए बैठा है उससे उदारता की क्या आशा ?"

किन्तु सन्त तो श्रुति प्रतिपादित प्रभु की महिमा को, उसकी झलक को अपने चरित्रों में प्रदान कर देते हैं। जिससे अगाध विश्वास का निर्माण होता है। जीवन में विश्वास की अनिवार्य आवश्यकता है; क्योंकि—

दो०—बिन विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु-द्रवहि न राम
राम कृपा बिन सपनेहु मन कि लहे विश्राम।

अमृतकण

पूज्य परम गुरुदेव के अनमोल बोल

—नाम-महिमा—

'रामायण, माला है, रामनाम उसमें सुमेरु है'
रामायण राम रूप है किन्तु वह रूप नाम के आधीन है
—देखियत रूप नाम आधीना

❋

—साधु का धर्म सेवा है—

स्थानीय साधु धर्मदास को समझाते हुए एक बार कहा था—'झोपड़ा बनाने में लकड़ी, रस्सी, पत्ते, सींकें आदि कई वस्तुएँ लगती हैं। जब वह बनकर तैयार होता है तब उसका नाम 'झोंपड़ा' होता है। फिर उसे कोई 'रस्सी' या 'लकड़ी' आदि के नाम से नहीं पुकारता। इसी प्रकार सांसारिक नाम, रूप, जाति आदि के योग से 'साधु' बनता है। मनुष्य जब साधु बन जाता है तब उसकी अन्य बातें गौण हो जाती हैं। साधु का अर्थ है—सेवक। और सेवक का अपना धर्म है सेवा।

—पूर्ण ज्ञान या पूर्ण भक्ति में भय नहीं—

घनेले के सत्संगी भक्त श्री रामप्रसादजी ने एक बार पूछा—

महाराज जी ! मुझे मनुष्य से डर नहीं लगता। फिर चाहे वह मेरा शत्रु हो या डाकू और चाहे वह नङ्गी तलवार लेकर सामने ही क्यों न आजाय ! किन्तु सर्प और सिंह को देखकर मैं अत्यन्त भयभीत हो जाता हूँ। न जाने यह क्या बात है ?

महाराज जी ने उत्तर दिया—भैया, भय तो तब दूर होगा जब

सब प्राणियों से या तो प्रेम करने लगो या फिर यह समझ लो कि ये सब श्री राम के रूप हैं। पूर्ण ज्ञान अथवा पूर्ण भक्ति में भय नहीं होता वैसे तो श्री जानकी मैया का पता लगाने के लिये बहुत से बानर गये थे। तन-मन से श्रीराम-काज में लगे थे वे। किन्तु भय उनमें लगा था—

डरपे गीध वचन सुनिकाना

एक हनुमान जो नहीं डरे क्योंकि वे पूर्ण भक्त थे, वे निर्भय थे—

सैल बिसाल देख इक आगे
तापर कूदि चढ़े भय त्यागे

—भगवत्कृपा के पात्र—

सिड़ी पागलों के द्वारा कभी-कभी ऐसी सटीक भविष्यवाणी होती कि आश्चर्य होता था। छोटे महाराज जी ने एक बार पूछा-महाराज जी। पागलों के मुँह से भगवान की वाणी कैसे प्रकट होती है? वे इस कृपा के पात्र कैसे बन जाते हैं?

महाराज जी ने कहा—"भैया, भगवान की कृपा तो सीधे सादे लोगों पर होती है चतुरों पर नहीं। क्योंकि भगवत्कृपा से सरल-हृदय में उतरा हुआ चमत्कार लोक-मङ्गल करता है किन्तु चतुर-चित्त का चमत्कार लोक में अमङ्गल करता है। सरल हृदय की वस्तु 'पर' के लिये होती है किन्तु चतुर हृदय की चीज 'स्व' के लिए होती है।"

—ध्येय 'नाम' है—

रूप साक्षात्कार के पश्चात् नाम का साक्षात्कार होता है। रूप-रहस्य ज्ञात होने पर नाम का रहस्य खुलता है।

—आवश्यक साधन—

साधक को प्रतिदिन शरीर से सेवा-कार्य करना चाहिए। क्योंकि दैनिक शारीरिक श्रम शरीर का शोधक होता है। इसके अतिरिक्त छ सहस्र षडक्षर मन्त्र का जप एवं पच्चीस सहस्र सीताराम-नाम का जप तथा कम-से-कम 'रामचरित मानस' का मासिक पाठ अवश्य करना चाहिए। इससे शरीर वाणी निर्मल होंगे। इनसे मन निर्मल

होगा और तब श्रीरामजी के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त होगा प्रभु का कथन है—

—निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

—दुर्लभ-सन्त—

दो०—ज्ञानी चतुरा बहु मिले पण्डित मिले अनेक,
रामरता इन्द्रिय जिता कोटिन में कोउ एक।

मूलचरित्र

(१)

मध्य प्रान्तगते जरारपुर के मार्गे सिते पञ्चमी
तिथ्यां नागयुगाङ्क भूपरिमिते श्रीवैक्रमे वत्सरे
कारुण्याब्धिरवातरद् गुरुवर : श्री रत्नदासः पुरा,
त्यक्त्वा विंशतिवर्ष-सम्मितवया गेहं गतः काननम्।

अर्थ—"मध्य प्रदेश के अन्तर्गत 'जरारे' नामक गाँव में विक्रम सम्वत् १६४८ अगहन सुदी पंचमी के दिन करुणा सागर गुरुदेव भगवान् श्री रामरतनदास जी महाराज अवतीर्ण हुए। बीस वर्ष की अवस्था में घर छोड़ कर वन में चले गये।"

(२)

सद्यः प्राप्य करेह नामक वनं व्याघ्रादिसंसेवितम्
प्रान्ते ग्वालियराभिधानविदिते बद्धासनः प्रस्तरे,
तत्र श्रीरघुनाथ नामसरसै रत्नसुधानिर्झरै
निर्धौतानकरोद्व वैरमलिनान् क्रूरान् पशून कानने।

अर्थ—"शीघ्र ही ग्वालियर प्रान्त के अन्तर्गत व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं से युक्त 'करह' नामक वन में पहुँचे और एक प्रस्तर के आसन पर आसीन होकर तपोरत हो गये। तथा उन्होंने श्रीराम-नाम से

सरस अपने हृदय के सुधा-मधुर भाव रूपी झरनों से वैर-मलिन क्रूर वन्य पशुओं को भी निर्मल-हृदय कर दिया।"

(३)

कृत्वा सिद्धिसहोदरैः सुचरितैर्विस्मयरसान् मानुषान्
दत्वा स्फीतयशो विशिष्टमहसा लोकाय यः शुभ्रताम्
सोऽयं वाण-वसुन्धरा-नखमिते संवत्सरे वैक्रमे
मासे फाल्गुनिकेऽष्टमीतिथियुते सोमे स्वरूपं गतः।

अर्थ—"अपने सिद्धि-सम्पन्न अद्भुत चरित्रों के द्वारा लोगों को आश्चर्य चकित कर तथा विस्तृत विशिष्ट यश की शान्ति से लोक को उज्वलता प्रदान करके वि० सम्वत् २०१५ फागुन कृष्ण अष्टमी सोमवार के दिन पूज्य चरण अपने स्वरूप में लीन हो गये।"

(४)

तच्छिष्यौ विदितौ तु रामलखनः श्रीरामदासस्तथा
यत्यान्त्येष्टिविधावसंख्यजनता सौख्यं महदन्वभूत्।
वर्षव्यापि प्रचालितं श्रीहरेः पापापहं कीर्तनम्
स्थानश्चापि समाधिसूचनकरं निर्मापितं सत्वरम्।

अर्थ—"उनके दो प्रसिद्ध शिष्य हैं श्री १०८ श्री रामलखनदास जी एवं श्री १०८ श्री बाबा रामदास जी महाराज। जिनके भण्डारे में अपार जनसमूह ने अपार आनन्द प्राप्त किया। एक साल का अखण्ड हरिनाम-कीर्तन का आरम्भ किया गया तथा पूज्य परम गुरुदेव के समाधि-मन्दिर का निर्माण कराया गया।"

(५)

एवं यल्ललितं गुरोः सुचरितं श्रीरामदासोदितम्
चित्रं सर्वजनानुरञ्जनकरं तद्रामशास्त्र्यङ्कितम्
पादाम्भोज-नतिं विधाय विधिवद् भक्त्याभिरामोभृतः
शश्वत्प्रार्थयते हरिं सुचरितं भूयान् मुदे जन्मिनाम्॥

अर्थ—"इस प्रकार श्री गुरुदेव का ललित चरित्र, जिसे पूज्य बाबा श्री रामदासजी महाराज ने बताया और श्री रामशास्त्री ने उस विचित्र

चरित्र को रोचक शैली में विस्तृत रूप से अंकित किया, पूज्य परम गुरुदेव के चरणकमलों में नत मस्तक होकर भक्ति-भाव से सम्पन्न यह अभिरामदास निरन्तर प्रभु से प्रार्थना करता है कि वह शुभ चरित्र प्राणियों को आनन्द प्रदान करे।"

—रचयिता—

श्री अभिरामदासजी वेदान्ताचार्य वाराणसी

करह-आश्रम की गुरु-परम्परा

सीता नाथ समारम्भां रामानन्दार्य मध्यमाम्
अष्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरु-परम्पराम्।

❋

सर्वेश्वर भगवान् श्रीराम जी
जगज्जननी श्री जानकी जी
नित्यपार्षद श्री हनुमान जी
श्री ब्रह्मा जी
श्री वसिष्ठ जी
श्री पराशर जी
श्री वेदव्यास जी-ब्रह्म सूत्र कार
श्री शुकदेव जी
श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी-बोधायन-वृत्तिकार
जगद गुरु श्री गङ्गाधराचार्य जी
श्री सदानन्दाचार्य जी
श्री रामेश्वरानन्दाचार्य जी
श्री द्वारानन्दाचार्य जी
श्री देवानन्दाचार्य जी
श्री श्यामानन्दाचार्य जी
श्री श्रुतानन्दाचार्य जी

श्री चिदानन्दाचार्य जी
श्री पूर्णानन्दाचार्य जी
श्री श्रियानन्दाचार्य जी
श्री हर्यानन्दाचार्य जी
श्री राघवानन्दाचार्य जी-श्री मठ-काशी।
श्री यतिराज रामानन्दाचार्य जी-आनन्द भाष्यकार
श्री अनन्तानन्दाचार्य जी
श्री कृष्णदास जी पयहारी-गलता गद्दी-जयपुर
श्री अग्रदास जी, रैवासा, गद्दी-मारवाड़
श्री नारायणदास जी-(श्री नाभा जी महाराज)
श्री श्यामदास जी
श्री प्रेमदास जी
श्री प्रह्लाददास जी
श्री रघुनाथदास जी
श्री भगवानदास जी
श्री मस्तरामदास जी-बहादुर गंज, उज्जैन-मस्तराम अखाड़ा
श्री आशाराम दास जी-गुल्लर छत्तासिंह पौर-जगदीशपुरी
श्री प्रेमदास जी-गुल्लर छोटा छत्ता-जगदीसपुरी
श्री भगवानदास जी-परम हंस-गोपाल घाट-गोकुल।
श्री सीतारामदास जी (श्री तपसी जी महाराज) स्थान-नूराबाद
—श्री हनुमान गढ़ी
श्री रामरतन दास जी महाराज-स्थान 'करह'

—❀०❀—

मुद्रक—कैलाश प्रेस, आगरा